"'सुरेश सिनहा प्रमुखतः प्रगतिशील कथाकार है। आज की जिस विषम संक्रान्ति मे हम जी रहे है, युगीन चेतना जिस प्रकार नई दिशाएँ ग्रहण कर रही है, निर्माण एव विकास के खोखले स्वर्गों के पीछे जिस प्रकार आर्थिक शोषण हो रहा है और निम्न-मध्य-वर्ग मे फलस्वरूप जो कटुता, रिक्तता और दूरियाँ व्याप्त हो रही है उन्हें अपनी कहानियों मे यथार्थ ढग से प्रस्तुत करने मे सुरेश सिनहा को बडी सफलता मिली है।''' आधुनिक जीवन के खोखलेपन कृत्रिमता एव अजनबीपन, नगरीय जीवन का मृत परिवेश और हास्यास्पद जीवन मूल्यो को भी उन्होने अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि के साथ प्रस्तुत किया है।''' नव मानवतावाद एव आधुनिकता का समन्विगत आधार उन्हे उस नए धरातल पर प्रतिष्ठित करता है जहाँ उनकी कहानियो मे नये मानव-मूल्यो, सम्बन्धो एव प्रगतिशील मानदण्डो की स्थापना की चेष्टा विकसित होती है। उनकी कहानियो मे यथार्थ के नये धरातल का उद्घाटन है, नवीन मूल्यो की स्थापनाएँ हैं और विकृतियो एव असगतियो का निर्वैयक्तिक, पर प्रभावशाली चित्रण है। प्रत्येक कहानी मन में एक नया विश्वास जगाती है और एक अपूर्व जिजीविषा से प्रेरित करती है।"

१६६० के पश्चात् नई कहानी मे व्यापक सामाजिक सन्दर्भों के यथार्थ परिप्रेक्ष्य मनव अर्थवत्ता प्रदान करने का बहुत सुरेश सिनहा को है।

—लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

मूल्य : ५ ००

नई कहानी की मूल-संवेदना

डा० सुरेश सिनहा

भारतीय ग्रन्थ निकेतन
दिल्ली-६

सूची-पत्र

सिन्हा, सुरेश, १९४०-
नई कहानी की मूल-संवेदना.
दिल्ली, भारतीय ग्रन्थ निकेतन, १९६६.

२१० पृ. १९ सेमी.

१. आस्था.

891.43304 0152,3 g भा. ग्रं. नि. ६.

प्रकाशक : भारतीय ग्रन्थ निकेतन,
१३३ लाजपतराय मार्केट,
दिल्ली-६
आवरण शिल्पी : पाल बन्धु
प्रथम संस्करण : १९६६
मूल्य : ५.००
मुद्रक : हरिहर प्रेस,
चावड़ी बाजार, दिल्ली-६

Nai kahani ki mul samvedana, by Suresh Sinha R[illegible]

डॉ० गोविन्दराम शर्मा, डॉ० भोलानाथ तिवारी, डॉ० सत्यपाल चुघ, डॉ तारकनाथ बाली, श्री अजितकुमार और श्री विश्वनाथ त्रिपाठी के लिए, जिनके स्नेह को शब्दों में अभिव्यक्त करना कठिन है !

दो शब्द

सम्प्रति नई कहानी वही विवादास्पद बन गई है और इस सम्बन्ध में बराबर चर्चा-परिचर्चाएँ हो रही हैं। पिछले दिनों मैंने कहानी को 'नई' की संज्ञा देने में संकोच प्रकट किया था और इस सम्बन्ध में मेरे दो-एक लेख भी प्रकाशित हुए थे। दिल्ली के व्यस्त जीवन से वापस इलाहाबाद आने पर मात्र जिज्ञासा भाव से १९५० के बाद की उपलब्ध कहानियों को पढ़ने का अवसर दुबारा मिला और इस विवाद को मैंने नए सिरे से सोचने तथा पुनर्मूल्यांकित करने की चेष्टा की।

१९५० के बाद कहानी में अनेक स्तर पर बहुत परिवर्तन आए हैं, जिन्हें मैंने पहले भी नहीं अस्वीकारा था, अब भी नहीं अस्वीकारता। प्रश्न उठता है, इन अनेक परिवर्तनों को लेकर नया स्वरूप ग्रहण कर विकसित होने वाली कहानी को 'नई' संज्ञा दी जाए अथवा नहीं। मुझे अब यह विवाद बड़ा अनर्गल लगता है कि कहानी की चर्चा छोड़कर, 'नई', 'पुरानी', 'अ-कहानी' तथा 'सक्रिय कहानी' आदि विशेषणों को लेकर विवाद किया जाए क्योंकि अगत्या कहानी कहानी ही रहेगी। अन्दर के पृष्ठों में सुविधा के लिए मैंने 'नई' संज्ञा स्वीकार लिया है क्योंकि यह सामान्य रूप से स्वीकृत हो चुका है।

इस सम्बन्ध में मेरे कुछ 'मित्र' मुझे कोसेंगे, जानता हूँ ? पर अन्दर यदि वे थोड़े 'संतुलित' ढंग से देखेंगे, तो उन्हें लगेगा कि संज्ञा के विवाद को छोड़कर कमोबेश मेरे विचार वही हैं, जो मैंने उनके साथ रहकर भी प्रकट किए थे और अब भी प्रकट कर रहा हूँ। अस्तु।

अन्त में निवेदन है कि यह पुस्तक एक आलोचक के रूप में लिखी जाकर एक लेखक के ऊपर होने वाली प्रतिक्रियाओं का ब्यौ[illegible] मात्र है। अतः इसमें किसी आलोचना-दृष्टि को खोजना व्यर्थ होगा।

सर्वश्री मोहन राकेश, नरेश मेहता, कमलेश्वर, शिवदान सिं[illegible] चौहान, देवीशंकर अवस्थी, कुलभूषण, श्रीकान्त वर्मा, जगदीश चतुर्वेदी[illegible] अनन्त, ज्ञानरंजन, रवीन्द्र कालिया तथा से० रा० यात्री का हार्दिक रू[illegible] से कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने प्रयाग तथा दिल्ली में चर्चाओं, पत्रों एवं दूसरे रूपो[illegible] मे मुझे अमूल्य सुझाव दिए हैं, जिनसे मैंने पूरी सहायता ली है। यदि[illegible] पुस्तक मे कुछ उपयोगी है, तो वह इन्हीं सबके सहयोग, आत्मीयता ए[illegible] स्नेह के कारण ही सम्भव हुआ है। आदरणीय डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय[illegible] को भी विनीत भाव से स्मरण करता हूँ, जिन्होंने अपने अत्यन्त व्यस्त[illegible] समय से कुछ क्षण निकालकर इतनी लम्बी भूमिका लिखने की कृपा[illegible] की है।

कुमारी विनीता पल्लवी ने बड़े श्रम से प्रेस कॉपी तैयार की है[illegible] उन्हें अपना अमित स्नेह भेजता हूँ।

कल्पना,
१६ पुरुषोत्तमनगर, हिम्मतगंज,
इलाहाबाद-३
१८ अगस्त, १९६५

—सुरेश सिनहा

भूमिका

आरम्भ से कहानी-कला अपने में स्वतन्त्र और पूर्ण कला है और जीवन के महत्त्वपूर्ण क्षणों को आकर्षक ढंग से प्रस्तुत करने की क्षमता रखती है। इस कला में जीवन की अद्भुत पकड़ है। उसके द्वारा न के जटिल-से-जटिल पर्तें सरलतापूर्वक उघाड़ी जाती हैं। रचना न की दृष्टि से निस्सन्देह इसकी अपनी सीमाएँ हैं और वह जीवन इसकी समग्रता के साथ अपने में समेट लेने में भी असमर्थ रहती है, तो जीवन के जिस बिन्दु पर कहानी की दृष्टि पड़ती है वह बड़ी गहराई साथ उसे माप लेती है। वह जीवन से अपने ढंग से जूझती है, किन्तु नी अवश्य है। हिन्दी में ही नहीं संसार का कहानी-साहित्य इस की पुष्टि करता है। और आज का जीवन तो इतना विशाल, जुड़ी और दुरूह एवं जटिल हो गया है कि उसे उसकी समग्रता के र महाकाव्यकार की भाँति देखना असम्भव है। आज तो उसे एक र न देखकर विभिन्न पार्श्वों और कोणों से ही देखा जा सकता है, वन-गत सत्य को आंशिक रूप में क्रमशः अनुभूत कर उसके पूर्णत्व पहुँचा जा सकता है। लेखक यदि जीवनगत सत्य को आंशिक रूप ही प्राप्त कर ले तो उसे सफल कहा जायगा। इस प्रकार की आंशिक अभिव्यक्ति के लिए कहानी उपयुक्त माध्यम है। कहानियों में व्यक्त सत्य-खण्डों को मिलाकर देखने से जीवन का सच्चा "पैटर्न" दिखाई पड़ता है। आज का कहानी-लेखक अपनी कला की प्रकृति के अनु-र नवयुगीन संवेदनाओं को प्राप्त करते हुए, नवीन समस्याओं से

मोहा लेते हुए नित नवीन मे जूझ रहा है और जो उसके लिए नितान्त स्वाभाविक है। वह कला की उत्कृष्टता की ओर यदि सचेत है, तो जीवन-सत्य को गहराई से देखने, जीवन के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त करने के प्रति भी सतत प्रयत्नशील है। त्रुटियो के रहते हुए भी उसमें शक्ति है।

सिर्फ लिखने की लत रखने वाले कहानी-लेखकों को छोडकर, अथवा संसार से वीतराग हुए लेखकों को छोडकर, अथवा विगत शताब्दी के "कलार्थ कला" वाले सिद्धान्त मे विश्वास रखने वाले कलाकारों को छोडकर, अन्य कोई जागरूक और सचेत लेखक जीवन संग्राम से अलग नही रह सकता। उसे अपने और अपने चारो ओर के समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करना पडता है। लेखक एक व्यक्ति है। व्यक्ति होने के नाते वह अकेला नही है। उसका घनिष्ठ सम्बन्ध समाज से, और अन्ततोगत्वा राष्ट्र से, रहता है। अपने समाज और राष्ट्र मे जो कुछ घटित होता है उसके प्रति कहानी-लेखक, या कोई भी कलाकार उदासीन नही रह सकता। हिन्दी मे शायद ही कोई ऐसा कहानी-लेखक है जो अपने को भारतीय कहने और अपनी कला मे "भारतीयपन" बरतने में संकोच का अनुभव करता हो—विशेष रूप से आज अब, स्वतन्त्र भारतीय जीवन की नीव सुदृढ बनाना प्रत्येक नागरिक का पुनीत कर्तव्य है। यह ठीक है कुछ लोग ऐसे भी हैं जो देश की नवार्जित स्वतन्त्रता और साहित्य-रचना का कोई परस्पर सम्बन्ध नही मानते। उनका कहना है कि लेखक तो बस लिखता है। समाज और राष्ट्र मे क्या होता है, इससे उसका कोई सम्बन्ध नही। भारत मे ही नही, यूरोप मे भी इस प्रकार की विचारधारा का अस्तित्व पाया जाता है। कुछ लोग ऐसे भी हैं, जिनके विचारो मे सन्तुलन नही है, या जो मानसिक उलझन मे पड़े इधर-उधर भटक रहे हैं। खेद का विषय है कि आज कहानी साहित्य के क्षेत्र मे कई तरुण किन्तु प्रतिभाशाली लेखक महत्वा- की वेदी पर अपनी कला की बलि चढा रहे हैं।

निस्सन्देह वे भूल जाते है कि वर्तमान राष्ट्रीय जीवन मे उनका क्या और किस प्रकार का सक्रिय भाग हो सकता है । साहित्य और साहित्यकार का आज से नही, मानव इतिहास के आदिम काल से, मानव-सभ्यता के विभिन्न विकास-कालो मे अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रहा है। लय, गति, यति, कल्पना आदि का आश्रय ग्रहण कर साहित्य और कला मानव-मन को प्रभावित एवं अभिभूत करती रही है। विषयगत और शैलीगत परिवर्तनों के बावजूद साहित्य और कला ने अभी तक अपना यह मौलिक रूप विस्मृत नही किया। आधुनिक वैज्ञानिक और टेक्नोलोजिकल प्रगति के युग मे भी उसमे कोई प्रकृतया परिवर्तन होता दृष्टिगोचर नही हो रहा। लेखक या कलाकार का युग बोध, संवेदनशीलता उसके चेतन जीवन और अवचेतन मन को सचालित करती रहती है। तदनुकूल उसकी शब्दावली, भाषा, शैली आदि मे परिवर्तन होना अनिवार्य हो जाता है। ईश्वर के रचना-विधान मे यह बडी अद्भुत बात नजर आती है कि एक व्यक्ति की भाव-सृष्टि दूसरे व्यक्ति की अनुभूत विषय बन जाती है। लेखक की वाणी प्रेरणा-जन्य होती है। प्रेरणा-जन्य होने के कारण लेखक या कलाकार की सर्जनात्मक प्रतिभा का अन्तिम सम्बन्ध जीवन से स्थापित हो ही जाता है। वैसे यूरोप और भारत मे ऐसे विचारक भी रहे है, जिन्होने केवल अभिव्यंजनागत विधान को ही महत्व दिया, किन्तु ससार का साहित्य उनके मत की सत्यता प्रमाणित नहीं करता। प्रेम, भय, घृणा आदि विश्व-साहित्य को उद्वेलित करते रहे है, साहित्य मे मनुष्य का 'रावणत्व" और "रामत्व" दोनों अलग-अलग रूपो मे या सघर्ष के रूप मे चित्रित होते रहे हैं। मन के इस सघर्ष के अलावा आज विज्ञान और औद्योगीकरण-जन्य विषमताओं से भी उसका सघर्ष है। इतना ही नही वह विज्ञान के नवीनतम आविष्कारो के प्रकाश मे अपने जीवन और अपने मन को मापने का अभूतपूर्व प्रयास कर रहा है। इन सबका प्रभाव उसके साहित्य, उसकी कला, उसकी शैली आदि पर पड रहा है। साथ ही वह नवीन मनोवै-

मोह छोड़ते हुए नित नवीन में जुट रहा है और जो उसके लिए नितान्त स्वाभाविक है। वह कला की उत्कृष्टता की ओर यदि सचेत है, तो जीवन-सत्य को गहराई से देखने, जीवन के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त करने के प्रति भी सतत प्रयत्नशील है। त्रुटियों के रहते हुए भी उसमें शक्ति है।

सिर्फ लिखने की लत रखने वाले कहानी-लेखकों को छोड़कर, अथवा संसार से वीतराग हुए लेखकों को छोड़कर, अथवा विगत शताब्दी के "कलार्थ कला" वाले सिद्धान्त में विश्वास रखने वाले कलाकारों को छोड़कर, अन्य कोई जागरूक और सचेत लेखक जीवन-संग्राम से अलग नहीं रह सकता। उसे अपने और अपने चारों ओर के समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करना पड़ता है। लेखक एक व्यक्ति है। व्यक्ति होने के नाते वह अकेला नहीं है। उसका घनिष्ठ सम्बन्ध समाज से, और अन्ततोगत्वा राष्ट्र से, रहता है। अपने समाज और राष्ट्र में जो, कुछ घटित होता है उसके प्रति कहानी-लेखक, या कोई भी कलाकार उदासीन नहीं रह सकता। हिन्दी में शायद ही कोई ऐसा कहानी-लेखक है, जो अपने को भारतीय कहने और अपनी कला में "भारतीयपन" बरतने में संकोच का अनुभव करता हो—विशेष रूप से आज जब, स्वतन्त्र भारतीय जीवन की नींव सुदृढ़ बनाना प्रत्येक नागरिक का पुनीत कर्तव्य है। यह ठीक है कुछ लोग ऐसे भी हैं जो देश की नुवार्जित स्वतन्त्रता और साहित्य-रचना का कोई परस्पर सम्बन्ध नहीं मानते। उनका कहना है कि लेखक तो बस लिखता है। समाज और राष्ट्र में, क्या होता है, इससे उसका कोई सम्बन्ध नहीं। भारत में ही नहीं, यूरोप में भी इस प्रकार की विचारधारा का अस्तित्व पाया जाता है। कुछ लोग ऐसे भी हैं, जिनके विचारों में सन्तुलन नहीं है, या जो मानसिक उलझन में पड़े इधर-उधर भटक रहे हैं। खेद का विषय है कि आज कहानी साहित्य के क्षेत्र में कई तरुण किन्तु प्रतिभाशाली लेखक महत्वाकांक्षा की वेदी पर अपनी कला की बलि चढ़ा रहे हैं।

निस्सन्देह वे भूल जाते हैं कि वर्तमान राष्ट्रीय जीवन में उनका क्या और किस प्रकार का सक्रिय भाग हो सकता है। साहित्य और साहित्यकार का आज से नहीं, मानव इतिहास के आदिम काल से, मानव-सभ्यता के विभिन्न विकास-कालों में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रहा है। लय, गति, यति, कल्पना आदि का आश्रय ग्रहण कर साहित्य और कला मानव-मन को प्रभावित एवं अभिभूत करती रही है। विषयगत और शैलीगत परिवर्तनों के बावजूद साहित्य और कला ने अभी तक अपना यह मौलिक रूप विस्मृत नहीं किया। आधुनिक वैज्ञानिक और टेक्नोलोजिकल प्रगति के युग में भी उसमें कोई प्रकृतया परिवर्तन होता दृष्टिगोचर नहीं हो रहा। लेखक या कलाकार का युग बोध, संवेदनशीलता उसके चेतन जीवन और अवचेतन मन को सचालित करती रहती है। तदनुकूल उसकी शब्दावली, भाषा, शैली आदि में परिवर्तन होना अनिवार्य हो जाता है। ईश्वर के रचना-विधान में यह बड़ी अद्भुत बात नजर आती है कि एक व्यक्ति की भाव-सृष्टि दूसरे व्यक्ति की अनुभूत विषय बन जाती है। लेखक की वाणी प्रेरणा-जन्य होती है। प्रेरणा-जन्य होने के कारण लेखक या कलाकार की सर्जनात्मक प्रतिभा का अन्तिम सम्बन्ध जीवन से स्थापित हो ही जाता है। वैसे यूरोप और भारत में ऐसे विचारक भी रहे हैं, जिन्होंने केवल अभिव्यंजनागत विधान को ही महत्व दिया, किन्तु संसार का साहित्य उनके मत की सत्यता प्रमाणित नहीं करता। प्रेम, भय, घृणा आदि विश्व-साहित्य को उद्वेलित करते रहे हैं, साहित्य में मनुष्य का 'रावणत्व' और "रामत्व" दोनों अलग-अलग रूपों में या संघर्ष के रूप में चित्रित होते रहे हैं। मन के इस संघर्ष के अलावा आज विज्ञान और औद्योगीकरण-जन्य विषमताओं से भी उसका संघर्ष है। इतना ही नहीं वह विज्ञान के नवीनतम आविष्कारों के प्रकाश में अपने जीवन और अपने मन को मापने का अभूतपूर्व प्रयास कर रहा है। इन सबका प्रभाव उसके साहित्य, उसकी कला, उसकी शैली आदि पर पड़ रहा है। साथ ही वह नवीन मनोवै-

ज्ञानिक, सामाजिक, नैतिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि विभिन्न समस्याओं से जूझ रहा है। आधुनिकता का दावा करने वाला कोई भी चेतन लेखक या कलाकार इन बातों से विमुख नहीं रह सकता। विमुख रहना उसके लिए आत्महत्या के बराबर होगा। कथाकार को तो इस ओर और भी सचेष्ट होना है। मानव सभ्यता की वर्तमान "क्राइसिस" के बीच उसे सिर ऊंचा रखना है···यदि वे अपने को जागरूक और "जीवित" लेखक या कलाकार कहलाना चाहते है। हो सकता है आधुनिक मशीनों की घड़घड़ाहट के बीच जागरूक लेखक या कलाकार को परम्परानुमोदित कला-माध्यम और भाषा-शैली से भिन्न माध्यम और भाषा-शैली ग्रहण करना पड़े, जो सम्भवतः सौन्दर्य की कसौटी पर खरी न उतरे, किन्तु उसके पीछे उसकी जीजिविषा होगी, उसकी सर्जनात्मक प्रतिभा होगी। यद्यपि कहना ही काफी नहीं है, क्योंकि "कैसे और क्या कहा गया है", यह भी देखने की बात है, तो भी वह कुछ कहेगा। वह चौमुखी यथार्थता को हृदय-रस में पगाकर कल्पना के सहारे व्यक्त करेगा। इसके अतिरिक्त लेखक या कलाकार को यह बात भी ध्यान में रखने की है कि आज दुनिया मे चारो ओर नीचे के लोग ऊपर उठ रहे हैं, उनकी बोलियाँ, शब्दावली, रूपक कहावत मुहावरे, रहन-सहन का ढंग आगे आ रहा है। ये लोग वे हैं जो वैज्ञानिक वृत्ति रखे बिना ही विज्ञान का प्रसाद प्राप्त कर जीवन को सुखमय बनाना चाहते हैं। इससे स्थिति जटिल हो गई है। इसलिए क्या कहा जा सकता है, कैसे कहा जाता है इसका महत्व किसी प्रकार भी कम नहीं माना जा सकता। मानव-जीवन के वर्तमान सक्रामक-काल मे, जब वैज्ञानिक प्रगति और नीचे से ऊपर उठे हुये लोग परम्परागत मानव-जीवन को चुनौती दे रहे हैं, लेखक या कलाकार का उत्तरदायित्व और भी अधिक बढ़ जाता है। आज की दुनिया में दरार पड़ गई है, मृत्यु के बादल मंडराते रहते हैं, घृणा, हिंसा, और प्रतिशोध की भावनाएँ प्रबल हो रही हैं, तृतीय महा- की सम्भावना दृष्टिगोचर होती जा रही है और प्रत्येक देश की

अपनी-अपनी असख्य दुरूह समस्याएं हैं। ऐसी दुनिया मे सामान्य जन सुख-शान्ति चाहता है। कैसी विडम्बना है! उस पर भी ऊपर के लोग विभिन्न प्रचार-साधनो द्वारा उसे "उल्लू बनाने" की कोशिश करते रहते हैं। फलत. वह दिग्भ्रमित है। स्वय अपने देश मे "रामराज्य" का स्वप्न देखने वाले हताश हैं और देश की उत्तरी सीमा, अलघ्य हिमालय, विदेशी आततायियो द्वारा आक्रान्त है। विदेशो के आक्रमण से न केवल हमारी नवार्जित स्वतन्त्रता, वरन् हमारी दीर्घकालीन जीवन-पद्धति भी खतरे मे पड़ गई है। हमारे सामाजिक जीवन मे एक ओर प्रगति की आड मे यूरोप और अमरीका का भद्दा अनुकरण है, तो दूसरी ओर आर्थिक विषमता का घोर सन्ताप। अंग्रेजी साम्राज्यशाही का अन्त कर लेने के बाद हम भारतवासी आत्म-मथन और आत्म-विश्लेषण द्वारा अपना जीवन-क्रम स्वय निर्धारित करने चले थे। किन्तु जीवन की वर्तमान देशी-विदेशी परिस्थितियो मे क्या वह सम्भव है? हम सब प्रकार के भौतिक और आध्यात्मिक अभावो से मुक्त होना चाहते हैं, व्यक्ति को पूर्ण बनाना चाहते हैं, अन्तर और बाह्य मे सन्तुलन स्थापित करना चाहते है। कोई भी व्यक्ति जो लेखक या कलाकार होने का दावा करता है उसे इन बातो से अधिक प्रिय और हो ही क्या सकता है। वह तो सभी प्रकार की मुक्तियो का दाता है। शर्त यही है कि उसमे समग्र और अन्तर्दृष्टि होनी चाहिए, उसमें "ह्यूमेन एप्रीसियेशन" की प्रतिभा होनी चाहिए। तभी वह स्वय उद्बुद्ध होकर दूसरो को उद्बुद्ध कर सकता है और पूर्ण मानव की प्रतिष्ठा कर सकता है। अपने और अपने चारों ओर के भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक झाड़-झखाड़ दूर कर वह एक ऐसे उन्मुक्त और स्वच्छन्द वातावरण की सृष्टि कर सकता है, जिसमे मनुष्य मनुष्य के रूप मे जीवित रह सकता है। अस्तु, साहित्यकार होने के नाते हिन्दी के नए कहानीकारो का मुख्य लक्ष्य मानव की, मानवता की रक्षा करते हुए अपने देश की सभी प्रकार की विकृतियाँ दूर कर नवार्जित स्वतन्त्रता की रक्षा करना होना चाहिए। नए कहानीकारों ने

समय रहते ही अपने महती उत्तरदायित्व को समझा है और बड़ी सूझ-बूझ से छोटे-छोटे जीवन खण्डों को अनुवीक्षण यंत्र से देखना शुरू किया है और स्थानीय आचार-विचार, रीति-नीति, भाषा, विशिष्ट शब्दावली, जीवन की रंगीनी आदि का समावेश कर कलात्मक वैशिष्ट्य उत्पन्न किया है (दे० नरेश मेहता, मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर और अमरकान्त की कहानियाँ)। नारी कथाकारों ने भी आज के जीवन की परिवर्तनशीलता और नारी सम्बन्धी मूल्यों को बड़ी मार्मिकता से अभिव्यक्त किया है (दे० उषा प्रियंवदा, मन्नू भण्डारी, शिवानी, विनीता पल्लवी, ममता अग्रवाल तथा अनीता औलक की कहानियाँ)। कुछ कहानियों में लोकगाथात्मकता प्रमुख होती हुई दृष्टिगोचर होती है। (दे० शैलेश मटियानी, फणीश्वरनाथ रेणु या मार्कण्डेय की कहानियाँ)। वे "ऐनेक्डोटल" हो जाती हैं। जीवन की आशा-निराशा, भग्न-आकांक्षाएँ, विषमता, विधैलापन, कटुता आदि सब-कुछ उनमें हैं। किन्तु इतने पर भी एक ओर तो उनके परम्परा के बीच में विभाजन-रेखा खींचना दुरुस्त कार्य है, तो दूसरी ओर उन्हें "नई कविता" के समकक्ष भी नहीं रखा जा सकता। क्योंकि आज की कहानी में समाज सापेक्षता है, संघर्ष है। वह बाह्यविमुख है। वह हमें चुनौती देती है। "नई कविता" में सामाजिक और राजनैतिक जीवन की विषमता के फल-स्वरूप उत्पन्न घुटन मात्र है। अपवाद दोनों में हैं, किन्तु व्यापक के रूप से कहानी अब भी कहानी है। कथानक का ह्रास तो संसार भर की कहानियों में दृष्टिगोचर होता है। किन्तु इसकी क्षतिपूर्ति पात्र के चरित्र, उसके मन को कुरेदने और उसके व्यक्तित्व को उभारने में हो जाती है। (दे० सुरेश सिनहा, ज्ञानरंजन, तथा रवीन्द्र कालिया की कहानियाँ)। कुछ कहानियाँ ऐसी भी हैं जिन्हें सरलतापूर्वक रेखाचित्र, निबन्ध, संस्मरण और रिपोर्ताज, इनमें किसी एक की कोटि में रखा जा सकता है। पश्चिम में कहानी-साहित्य के विकास पर दृष्टि रखते हुए . बात पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए, क्योंकि वहाँ उसकी जड़

ऐडोमन और स्टील के "स्केचेज" में मिलती है। पश्चिम में भी कथानक को 'स्टोरी पोयजन" कहा जाने लगा है। एक और आलोचक ने लिखा है :

The modern story teller has not dispensed with incident or anecdote or plot and all their concomitants, but he has changed their nature. There is still adventure, but it is adventure of the mind... Adventure for the moderns is an adventure through the jungle of human nature.

क्या आज की हिन्दी कहानी के सम्बन्ध में यह कथन अक्षरशः सत्य सिद्ध नहीं होता ? वास्तव में आज की कहानी में वातावरण और सामाजिक परिप्रेक्ष्य की प्रधानता हो चली है। घटना और पात्रों की अवतारणा किसी वैचारिक विशेषता, या "मूड" या जीवन का कोई विशेष पक्ष उभारने की दृष्टि से अधिक होती है और उस समय उसमें निबंधगत विशेषताएँ दृष्टिगोचर होने लगती हैं।

इन सब विषयगत और शैलीगत नवीनताओं के बावजूद आज की कहानी को पुरानी परम्परा से एकदम विच्छिन्न धारा मान लेना असंगत होगा। प्रथमतः तो आज की कहानी अपनी जन्मजात परम्परा का भार वहन कर रही है···अपने ढंग से कर रही है यह दूसरी बात है और जो स्वाभाविक भी है। द्वितीय यह कि जीवन और वैचारिक एवं कलात्मक परम्पराओं को खण्ड-खण्ड रूप में देखना उन्हें ग्राम्य भाव से देखना है।

वास्तव में आज की कहानी को समझने के लिए उसकी आधुनिकता क्या है, यह समझना पहले जरूरी है। आज के जीवन की वास्तविकता की जटिलता को आत्मसात् करना सरल नहीं है। फलतः असन्तोष और विक्षोभ उत्पन्न होना भी स्वाभाविक है। किन्तु निराशा और अवसाद क्षणों में सशक्त आस्थावान् स्वर परिलक्षित होता है, इस बात को भी अस्वीकारा नहीं जा सकता। सूक्ष्मातिसूक्ष्म बिन्दु पर आधारित एवं विकसित साहित्योपलब्धि में मानवता झाँकती नजर आती है। इसके

अतिरिक्त स्वतन्त्रता प्राप्त के बाद के राष्ट्रीय जीवन की विषमताएँ और अभिशाप तथा असंगतियाँ तो सर्वविदित ही हैं।

द्वितीय महायुद्धोत्तरकालीन अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय जीवन की परिस्थितियों में कहानी ने नया स्वर ग्रहण किया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि, जैसा पहले कहा जा चुका है, कहानी जीवन को आगे रखकर चलती है। उसके लिए नई-नई दिशाएँ खुली हैं। उनमें एक निश्चित लक्ष्य है—स्वस्थ समाज में स्वस्थ व्यक्ति। उसमें कुंठा, घुटन, रोमान्स आदि के प्रति आसक्ति बिल्कुल नहीं है, यह तो नहीं कहा जा सकता···इन बातों का साहित्य में बिल्कुल अस्तित्व न रहा हो या आगे नहीं रहेगा, यह भी नहीं कहा जा सकता। मनुष्य है तो कुंठाएँ और रोमान्स भी रहेगा। किन्तु व्यापक दृष्टि से देखने पर लगता है कि आज का कहानीकार भूख और सेक्स के संघर्ष, मानव-जीवन को सुखी बनाने के मार्ग में बाधाओं को दूर करने, जीवन की विषम परिस्थितियों को तोड़ने, सामाजिक और राजनीतिक जीवन में झूठ और फरेब दूर करने आदि की दृष्टि से व्यंग्यास्त्र धारण किए हुए नए कवि की अपेक्षा साहस और पौरुष का अधिक परिचय दे रहा है। आज के कहानीकार ने बदलते मूल्य पहचानने में पूर्ण सूक्ष्मता प्रकट की है। वह जीवन को भौतिक दृष्टि से सुखी बनाने में विश्वास तो रखता है, किन्तु उससे भी अधिक वह मनुष्य को मानसिक और आत्मिक दृष्टि से तुष्ट होते हुए देखना चाहता है। अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय परिस्थितियों के फलस्वरूप टुकड़े-टुकड़े हुए जीवन-दर्पण को वह इस प्रकार जोड़ना चाहता है कि मनुष्य उसमें अनेक प्रतिबिंबों के स्थान पर एक ही प्रतिबिंब देख सके। आज का मध्यवर्गीय कहानीकार कायर और डरपोक नहीं है, उसमें पलायन की प्रवृति नहीं है। कविता में गतिरोध का प्रश्न उठाया जा सकता है। कहानी के क्षेत्र में उसका प्रश्न ही नहीं उठता। नई पीढ़ी के कहानीकारों ने जीवन की परिस्थितियों से मोर्चा लेने के लिए ··· त्वरित गति से पैंतरा बदला, पिटेपिटाये विषय छोड़े, पिटीपिटाई

[illegible]

सन्तोष का विषय है कि सर्वथा नए कथाकारों की एक नई परम्परा बन रही है जो अपनी कला के इस गरिमापूर्ण उत्तरदायित्व के प्रति सचेत है। उन्होंने कला का आदर्श पा लिया है, यह तो नहीं कहा जा सकता। किन्तु उनके कदम उस ओर बढ़ रहे हैं, यह देख कर हिन्दी कहानी-साहित्य के उज्ज्वल भविष्य की ओर संकेत किया जा सकता है। यहां कुछ कहानियों का मैं विशेष उल्लेख करना चाहूँगा। "फ्रेम के इधर और उधर" तथा 'सीमाएं'' (ज्ञान रंजन) "टकराता हुआ आकाश" और "सुबह होने तक" (सुरेश सिनहा) 'सिर्फ एक दिन' तथा 'ग्राम' (रवीन्द्र कालिया) आदि कहानियाँ इसी नव्यतर परम्परा की देन है। ये कहानियाँ पढ़कर एक निष्कर्ष यह अवश्य निकाला जा सकता है कि लेखक स्वयं मध्यवर्ग के हैं और उन्होंने अधिकांशत मध्यवर्ग की विद्रूपता और कुरूपतापूर्ण जीवन का चित्रण किया है। उन्होंने अपने वर्गीय जीवन के खण्डित दर्पण में अपने चेहरे देखे हैं। निस्सन्देह संसार के लगभग सभी देशों में साहित्य और कला के क्षेत्र में नेतृत्व उच्च और, अब आज कल, मध्य वर्ग के हाथ में रहा है। वर्तमान रूप अपवाद-स्वरूप है। वहाँ तो मजदूर कवियों का आविर्भाव हो रहा है। मध्यवर्गीय लेखक या कलाकार भी मजदूरों का, शोषितों पीड़ितों का, वर्णन करता है, या कर सकता है, किन्तु वह केवल बौद्धिक

सहानुभूति होगी। यही कारण है कि इन नए कहानी-लेखकों ने अपने को वर्गीय जीवन तक ही सीमित रखा है। उनकी सचाई की दाद दिए बिना नहीं रहा जा सकता। उनका साहस सराहनीय है।

इन कहानीकारों में भविष्य के प्रति गहरी सम्भावनाएं हैं। उन्होंने निकट अतीत के कहानी-लेखकों की अपेक्षा कलात्मक या शैलीगत विशेषताएं प्रकट की हैं। चेतन-प्रवाह पद्धति से दूर का सम्बन्ध होते हुए भी उनकी कहानियों में निष्क्रियता नहीं है। उनके पात्र अपने मन से जूझते हुए सामाजिक परिस्थितियों से भी जूझते हैं। आजकल की नई पीढ़ी के कहानीकारों की रचनाओं से यह बात बड़ी स्पष्टता से लक्षित होती है कि मनुष्य एक भौतिक इकाई है। वह बाहर से सक्रिय तो रहता ही है, किन्तु वह भीतर से भी सक्रिय रहता है। मनुष्य किसी भी क्षण जड़ नहीं है। सामाजिक घात-प्रतिघात से मनुष्य का सम्पूर्ण व्यक्तित्व प्रतिक्रिया प्रकट करता है। ये कहानियां यथार्थ-प्रधान होती हैं। उनमें त्वरित गति होती है और वे काल और स्थान-निरपेक्ष होती हैं। उनमें मानव-मन की ग्रंथियों को खोलने का प्रयास होता है, न कि कुण्ठित और दमित व्यक्तित्व का चित्रण। मानव मन की ग्रंथियों को खोलना एक प्रकार के मानसिक चेतन का उपयोग करना है। फलत: इन कहानियों का व्यक्ति विषमताओं और कुप्रवृत्तियों से पीड़ित (दे० रमेश बक्षी और राजकमल चौधरी की कहानियां) होने पर भी स्वस्थ है। ये रचनाएं समाज पर करारा व्यंग्य कसती हैं और समाज को अपनी ओर देखने के लिए बाध्य करती हैं। कहना चाहिए व्यक्ति ही समाज का रूप धारण कर, फलत: व्यक्ति और समाज में समन्वय उपस्थित कर, नवसृजन की उत्कण्ठा और जीवनपरकता व्यक्त करता है, ये कहानियां युग की व्यापक चेतना से अनुप्राणित हैं। उनमें यदि कहीं नवीन मूल्यों की स्थापना नहीं भी है, तो नवीन मूल्यों की ओर संकेत अवश्य ही है। संकेत इसलिए, क्योंकि आज की कहानी व्यंजना प्रधान होती है। उनका मूलाधार मानवता का ही है। मनुष्य

व मनुष्य की पहचान और मनुष्य की नैतिक ज़िम्मेदारी का मानसिक मन्थन।

यहाँ एक बात की मैं विशेष चर्चा करना चाहूँगा कि कुछ दिन पूर्व हिन्दी में जिस प्रकार "नई कविता" की चर्चा होती थी उसी प्रकार "नई कहानी" की चर्चा छिड़ी हुई है। निस्सन्देह इन दोनों प्रकार की चर्चाओं का लक्ष्य कलाकारों और आलोचकों द्वारा अनुभूत सत्य का परीक्षण करना, नवीन युग के भावबोध के प्रति सजग होना और नई दिशाएँ खोजना था, और है। इस वाद-विवाद से कविता और कहानी के सम्बन्ध में बौद्धिक चिंतन का शुभवसर प्राप्त हुआ और साहित्य की इन दोनों विधाओं की प्रवृत्ति मुखरित हुई। कलाकार और आलोचक, दोनों के एक साथ सोचने, समझने, विचारों का आदान-प्रदान और नवीन उपलब्धियों का उचित मूल्यांकन करने में आलोचना की भी पुष्टि हुई है। यह एक शुभ लक्षण है, क्योंकि अब कलाकार और आलोचक एक दूसरे के विरोधी प्रतीत नहीं होते।

किन्तु "नई कहानी" जैसे शब्दों का प्रयोग करते समय सतर्कता और सावधानी की आवश्यकता है। 'नया' या "नई" ये शब्द अपने में बड़े अच्छे हैं। ये जीवन्त शक्ति, जिजीविषा, प्रगति, परिवर्तनशीलता आदि के प्रतीक हैं। अमरीका में भी नवीनतम आलोचना को "नई आलोचना" और आलोचकों को 'नए आलोचक' के नाम से अभिहित किया जाता है। किन्तु दुर्भाग्यवश हिन्दी में ये शब्द बदनाम हो गए हैं। जहाँ तक मुझे स्मरण है हिन्दी की "प्रगतिवादी" विचारधारा के समर्थकों ने सर्वप्रथम साहित्य के साथ "नया" शब्द जोड़ा था। तत्पश्चात् "प्रयोगवादी" कविता का नामकरण "नई कविता" हुआ। दोनों संदर्भों में "नया" और "नई" शब्दों से साम्प्रदायिकता और दलबन्दी की बू आती है। "नया साहित्य" राजनीति से प्रभावित साहित्य विशेष का द्योतक बनकर रह गया। "नई कविता" से उस कविता का तात्पर्य समझा जाने लगा जिसमें कवि का टूटा व्यक्तित्व, कुण्ठा, मानसिक घुटन, दुःस्वप्न,

जीवन की सड़ाँद आदि उन जटिलताओं की अभिव्यक्ति होती थी जिनसे कवि का मानवीय अस्तित्व ही संकटापन्न हो गया था। उसकी अतिशय बौद्धिकता और सम्प्रेषणीयता के अभाव ने उसे उपहासास्पद बनाने मे सहायता की। ऐसा होना नही चाहिए था। किन्तु ऐसा हुआ, वह सर्वमान्य तथ्य है। अतः कहानी के साथ "नई" शब्द का प्रयोग सोच-समझ कर करना चाहिए, नही तो उस पर भी दलबन्दी की छाप लग जायगी। कहानी के भविष्य के लिए यह घातक होगा। शायद कुछ लोग कहानी को जबरदस्ती दलबन्दी की कीचड मे खीच लाना चाहते हैं और वे जानबूझ कर उसके साथ "नई" शब्द जोडते है।

और जब, कुछ लोग "नई कविता" और "नई कहानी" को समकक्षता की तुलना पर तोलने लगते है, तो "मुग्ध" हुए बिना नही रहा जाता। संभवतः वे उस समय या तो दोनो की मूलप्रकृति को दृष्टिपथ मे नही रखते और "नेतृत्व" का भार सम्भालते समय जो नही कहना चाहिए, कह जाते हैं, या वे "नई कविता" के भविष्य के सम्बन्ध में चिन्तित हैं। इस सम्बन्ध मे यह बात स्मरण रखने की है कि यूरोप और भारतवर्ष मे जबसे शिक्षा-प्रसार, पढने-लिखने की आदत पडने, मुद्रण-कला का प्रचार होने और आर्थिक परिवर्तन होने के कारण मध्यम वर्ग का जन्म हुआ और मध्यम वर्ग ने जबसे जीर्ण-शीर्ण परम्पराओ, आस्थाओं, मान्यताओ और विश्वासो के प्रति विद्रोह प्रकट किया तब से कथा-साहित्य उसका "महाकाव्य" बना हुआ है। जब तक मध्यम वर्ग जीवित है तब तक उपन्यास और कहानी की श्रेष्ठता और उसके विकास मे कोई कमी नही आने की। प्रत्युत उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि होने की पूर्ण आशा है, और वृद्धि निश्चित रूप से हो रही है। जो लोग आधुनिक कहानी की असमर्थता की बात कहते हैं, उसे युग-मानस की संवेदनाओं को ग्रहण करने मे अक्षम समझते हैं, उनमे शैथिल्य और दौर्बल्य देखते हैं, वे या तो कहानी पढ़ते नही, या किसी मतलब से ऐसा कहते हैं। क्योंकि युग-मानस से अलग होते ही उपन्यास और कहानी अन्तिम सांस

लेने लगेगी, जो बात अभी बहुत दिनों तक सोची भी नही जा सकती। समाज-सापेक्षता तो उपन्यास और कहानी की जान है। कविता के सम्बन्ध मे ज्यो की त्यो यह बात नही कही जा सकती । जीवन कविता के पीछे रहता है, लेकिन कहानी के आगे रहता है। जिस दिन कहानी जीवन को आगे कर नही चलेगी, उस दिन वह मर जायगी। जीवन के इतने अधिक नैकट्य के कारण ही उसकी शिल्प विधि मे विविधता आती है, वह नाटक और कविता की भाँति नियमो और सिद्धान्तो के जटिल बन्धनो मे अपने को बाँध नही पाती, बाँध नही सकती। कविता की भाँति कहानी आत्मपरक भी नही होती। इसलिए "नई कविता" और आधुनिक कहानी को रखने की चेष्टा अवैज्ञानिक है। इधर इस सबध मे जितनी चर्चाएं पढी-सुनी उनमे यह देखने को मिला कि उनकी भाषा-शैली और शब्दावली लगभग वही है जो "नई कविता" पर विचार करते समय व्यवहार मे लाई जाती थी। मेरी समझ मे यह ठीक नही है। कहानी कविता के वजन की चीज नही "हो नही सकती।

आज की कहानी के सदर्भ मे, उसकी नवीन कलात्मक सर्जना और सत्यान्वेषण के सदर्भ मे, हिन्दी-कहानी-परम्परा पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। यह सर्वविदित है कि हिन्दी कहानी का जन्म राष्ट्रीय और सामाजिक आन्दोलनो के क्रोड मे हुआ और उस समय के कहानी लेखको ने उस काल के सम्पूर्ण स्पन्दन के साथ कहानी-कला का ढाँचा प्रस्तुत किया। प्रेमचन्द और प्रसाद, सुदर्शन, कौशिक और चतुरसेन शास्त्री आदि कहानी-लेखको ने उपयोगितावादी दृष्टिकोण ग्रहण किया था। प्रेमचन्द ने यथार्थवादी आदर्शवादी-परम्परा को जन्म दिया, तो प्रसाद ने आदर्शवादी और कल्पना-प्रधान परम्परा को। विभिन्न कहानी-लेखको की शैलियो मे वैविध्य अवश्य था। किन्तु सबने प्रकारान्तर से पीडित मानवता के प्रति सहानुभूति प्रकट की। इन कहानी-लेखको की रचनाओ मे सूक्ष्म मनोवैज्ञानिकता भी यत्र-तत्र दृष्टिगोचर हो

जाती है। प्रेमचन्द के बाद जैनेन्द्र और अज्ञेय जैसे कहानी-लेखकों की
रचनाओं में यही सूक्ष्म मनोवैज्ञानिकता अधिक प्रमुख हो जाती है।
उन्होंने मध्यवर्गीय जीवन के रहस्यपूर्ण कोनों में झांका और रहस्यपूर्ण
कोनों में झांकने के फलस्वरूप उनकी शैली में एक नया मोड़ आया।
स्थूल, सामाजिक, यथार्थ, प्रगतिवादी कहानी लेखकों में अधिक उभरा।
उन्होंने भी मध्यम और निम्न वर्गों की वर्गीय परम्पराओं, रीति-नीति
आदि ग्रहण कर अपने अनुरूप प्रसंगों की उद्भावना की। जैनेन्द्र को
छोड़कर अन्य कहानी-लेखकों ने सामाजिक और राष्ट्रीय विषमताओं को
अधिक परखा। जैनेन्द्र की जीवन-दृष्टि अधिक दार्शनिक थी। इस दिशा
में अज्ञेय ने प्रतीकात्मकता द्वारा हिन्दी-कहानी को अधिक कोमल और
मानव संवेदनापूर्ण बनाया। स्थूलतः द्वितीय महायुद्ध के बाद की कहानी
में कहानी की प्रकृति और परम्परा सुरक्षित रहते हुए भी उसमें सामा-
जिक और राष्ट्रीय चेतना व्यक्त होते हुए भी वह अधिक सूक्ष्म हो गई
है। उसने मानव-मन को पहले की अपेक्षा अधिक गहराई के साथ नाप-
कर उसे शिल्पगत नवीन रूप प्रदान किया है। इस प्रकार आज की
कहानी निस्सन्देह एक सीमा तक आगे बढ़ी है। उसके विषय-चयन और
टेकनीक दोनों में ताजगी है।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक सुरेश सिनहा स्वयं नई पीढ़ी के प्रमुख
कहानीकार हैं। स्पष्ट है कहानी के सम्बन्ध में उनके अपने पुष्ट मत हैं,
जिन्हें इसमें उन्होंने बड़ी स्पष्टता एवं साहस के साथ प्रस्तुत किया है।
इनमें यद्यपि बहुत सी बातों से मैं सहमत नहीं हूँ, फिर भी सुरेश सिनहा
ने उन्हें पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर प्रस्तुत किया है। और उनके लिए पर्याप्त
ठोस तर्क दिए हैं।

सुरेश सिनहा प्रमुखतः प्रगतिशील कहानीकार हैं। आज की जिस
विषय सक्रान्ति में हम जी रहे हैं, युगीन चेतना जिस प्रकार नई दिशाएँ
ग्रहण कर रही हैं, निर्माण एवं विकास के खोखले स्वरों के पीछे जिस
प्रकार आर्थिक शोषण हो रहा है और निम्न-मध्यवर्ग में फलस्वरूप जो

कटुता, रिक्तता और दूरियाँ व्याप्त हो रही हैं, उन्हें अपनी कहानियों में यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने में सुरेश सिनहा को बड़ी सफलता मिली है ('नया जन्म'[1], 'मेहमान'[2], 'सुबह होने तक'[3] आदि कहानियाँ)। आधुनिक जीवन के खोखलेपन, कृत्रिमता एवं अजनबीपन, नगरीय जीवन का मूल्यविघटन और हास्यास्पद जीवन-मूल्यों को भी उन्होंने अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि के साथ प्रस्तुत किया है ('टकराता हुआ आकाश'[4], 'सोलहवें साल की बधाई'[5] 'पिघली सांझ'[6], 'नीली धुन्ध के आरपार'[7], 'अपरिचित शहर में'[8], 'पानी की मीनारें'[9] आदि कहानियाँ)। राजनीतिक जीवन से सम्बन्धित उनकी दो कहानियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं—'कुछ सवालों की तलाश'[10] तथा 'वतन'[11]। इनके अतिरिक्त 'तट से छूटे हुए', 'मुर्दा धन' 'टूट बिखरे बिम्ब', तथा 'सम्बन्ध' आदि उनकी दूसरी कहानियाँ हैं। सशक्त सामाजिक चेतना और आस्था ने जीवन जी सकने की क्षमता और वातावरण से ऊपर उठ सकने की समझ ही उन्हें प्रदान की है, कुण्ठा एवं निराशा नहीं। उनकी कहानियों में यही निष्ठा और सशक्त सशक्तता में अभिव्यक्त हुआ है। नव मानववाद एवं आधुनि-

---

१ 'कल्पना' (अप्रैल १९६५), हैदराबाद।
२ अप्रकाशित।
३ 'माध्यम' (नवम्बर १९६४), इलाहाबाद।
४ 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' (अक्टूबर १९६४), नई दिल्ली।
५ 'रेखा' (नवम्बर १९६४), नागपुर।
६ 'सारिका' (मार्च १९६२), बम्बई।
७. 'परिकथा' (अक्टूबर १९६५), इलाहाबाद।
८ 'सहर' (अक्टूबर १९६४), अजमेर।
९ 'शताब्दी' (मई १९६५), जबलपुर।
१० 'शताब्दी' (मार्च १९६५), जबलपुर।
११. 'कल्पना' (१९६५), हैदराबाद।

सत्ता का मनोविश्लेषण आधार तथा उस पर, परम्परा पर प्रतिक्रिया करता है, जहाँ उनकी कहानियों में नए मानव मूल्यों, सम्बन्धों एवं प्रगतिशील मानदण्डों की स्थापना की चेष्टा परिलक्षित होती है। उनकी कहानियों में यथार्थ के नग्न धरातल का उद्घाटन है। नवीन मूल्यों की स्थापनाएँ हैं और विकृतियों एवं असंगतियों का निर्विरोध पर प्रभावशाली चित्रण है। प्रत्येक कहानी मन में एक नया विश्वास जगाती है और एक अपूर्व जिजीविषा से प्रेरित करती है। सुरेश सिनहा की स्वाभाविक प्रवृत्ति गठन की ओर है, पर इसे चरम सहजता तथा सम्प्रेषित ढंग से प्रस्तुत करने की उनकी चेष्टा रही है। कुछ कहानियों में जटिल प्रतीक योजना तथा अमूर्त सांकेतिकता के कारण दुर्बोधता आई है पर कुल मिलाकर संश्लिष्ट गुणों से वे वञ्चित नहीं रहीं, यह अपने आप में एक बड़ी उपलब्धि है।

१९६० के पश्चात् नई कहानी में उभरते सामाजिक सन्दर्भों के यथार्थ परिप्रेक्ष्य में अभिनव अर्थवत्ता प्रदान करने का बहुत बड़ा श्रेय सुरेश सिनहा को है।

आज साहित्य की जो वर्तमान स्थिति है, विशेषतः कहानी विधा की, उसमें एक कहानीकार के लिए आलोचना करते समय तटस्थ निष्पक्ष एवं संतुलित बने रहना कठिन ही नहीं असम्भव प्रतीत होता है। लेकिन प्रस्तुत पुस्तक को देख कर सुखद आश्चर्य होता है। इस विचारोत्तेजक एवं नई दृष्टि देने वाली पुस्तक को हिन्दी पाठकों के हाथों सौंपते मुझे बड़ा संतोष है।

२, पी० सी० बनर्जी रोड,
एलनगंज,
इलाहाबाद--२

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

विजयदशमी पर्व
४ अक्तूबर, १९६५

विषय-सूची

दिशा एवं बोध

o

नई कहानी का वास्तविक सम्बन्ध युगीन जीवन से है । उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध समकालीन यथार्थ, समय और परिवेश में है । इसकी परिभाषा में कहा जा सकता है कि पूर्णतया यथार्थवादी सामाजिक दृष्टि की मर्यादा एवं सार्थक सामाजिक मूल्यों की सीमा में अनुभूति के किसी आवेग को अधुनातन एवं स्वाभाविक अभिव्यक्ति की गरिमा प्रदान करना ही नई कहानी है । नई कहानी जीवन के यथार्थ का प्रस्तुतीकरण है । वह जीवन, समाज, युग बोध और भाव-बोध के परस्पर सम्बन्धों एवं फलस्वरूप उत्पन्न प्रतिक्रिया का पूर्ण कलागत ईमानदारी से प्रस्तुत किया गया चित्रण है । पूर्ण कल्पना, पलायन, अनास्था एवं पराजय भरी घुटन में उसकी मृत्यु है, जीवन-संघर्ष कटु यथार्थ एवं राह से सम्पृक्त होना उसकी जिन्दगी । नई कहानी सामयिक सीमाओं के अन्तर्गत अपने यथार्थ, युग, समय, परिवेश और व्यक्ति को देखने-परखने एवं मूल्यांकित करने की प्रक्रिया है, जो यथार्थ को उसके उचित सन्दर्भों में सप्राणता के साथ अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न करती है ।

मूल्यों की स्थापना अथवा अन्वेषण और कथात्मक अभिव्यक्ति आपस में सम्बन्धित होते हुए भी दो बिल्कुल अलग-अलग चीजें हैं, जिन्हें

नई कहानी अत्यन्त संतुलित रूप में सामने लाती है। इसके असन्तुलन में कई प्रश्न उठ खड़े होते है, जिनके उत्तर के लिए या तो दुराग्रहों का आश्रय लेना पड़ता है, या कोई नया आन्दोलन खड़ा करने की आवश्यकता पड़ती है, जैसा अभी कई अल्पजीवी कहानी आन्दोलनों के सम्बन्ध में देखा गया है। बात को अप्रामाणिक न बनाकर और स्पष्टतया से कहा जा सकता है कि नई कहानी जीवन के यथार्थ की प्रतिच्छाया है। वह मानव-जीवन के संघर्ष के किसी संवेदना जन्य पक्ष का प्रतिनिधित्व करती है। वह जीवन के प्रगतिशील तत्वों को समाहित करते हुए नवीन मानव मूल्यों के अन्वेषण एवं स्थापना तथा नवीन सामाजिक सन्दर्भों के अभिनव सत्य का उद्घाटन ही नहीं करती, वरन् वह उन पुराने मूल्यों की भी खोज करती है, जो आज किन्हीं कारणों से विघटित हो चुके हैं, पर जो परिवर्तनशील स्थितियों में भी मानवीय भावधारा और यथार्थपरक सामाजिक परिवेश के स्पष्टीकरण के लिए आवश्यक प्रतीत होते हैं। इस प्रकार नई कहानी का मूल स्वर मानवतावादी होता है और उसका मूल्यांकन व्यापक आधुनिक मानवतावाद की कसौटी पर ही किया जा सकता है।

कई स्तरों पर यह बात उठाई जाती है कि पूर्व परम्परा से भिन्न
नई कहानी का अस्तित्व क्यों स्वीकारा जाय। इस सम्बन्ध में अनेक
आपत्तियाँ उठाई गई हैं और उनके उत्तर भी दिए गए हैं। यहाँ उन्हे
नए सिरे से उठाना कोई अर्थ नहीं रखता, पर निष्कर्ष रूप में इतना त
कहा जा सकता है कि नई कहानी में जीवन को देखने, सत्यान्वेषण ए
मूल्यों को खोजने की दृष्टि सर्वथा नई है, जिसने हिन्दी कहानी

निष्प्राण अभिनव शिल्प प्रदान कर परम्परा से असम्पृक्त किया है । जो अर्थहीन एव अव्यक्त है, उसे साकार एव व्यक्त बनाते हुए नई कहानी ने जीवन के परिचित सन्दर्भों मे नए एव सार्थक अर्थ खोजने की चेष्टा की है, जिसमे अभी तक कहानीकार या तो भयभीत एव त्रस्त था और फलस्वरूप पलायनवादी बन गया था, या विभ्रान्त जीवन(!)दृष्टि के कारण यथार्थतः समझ पाने मे पूर्णतया असमर्थ था । इस तथ्य को अस्वीकारा नही जा सकता कि आज का जीवन अधिक जटिल, संकुल एव विषम बन गया है, जिसके परिणामस्वरूप सूक्ष्म-से-सूक्ष्म बिन्दु पर भी दुरूहता एव दुर्बोधता का समावेश हुआ है । इन्ही बिन्दुओ के मध्य से गुजरने के कारण पथ को सहज-सरल न पाकर स्वभावतः नई कहानी ने अधिक गहराई मे जाकर सामाजिक परिवेश मे नए सन्दर्भों की खोज की है और भाव-बोध एव सौन्दर्य बोध के अभिनव स्तरो का अन्वेषण कर अभिव्यक्ति को अधिक सशक्त एव सार्थक तो बनाया ही है, साथ ही यथार्थ के नए धरातल एव नई जीवन-दृष्टि की उद्भावना कर नई कहानी को गतिशील बनाकर अर्थ को व्यापक गरिमा प्रदान की है ।

वास्तव मे 'नई' का अर्थ किसी प्रकार का भ्रष्टाचार नही है और नई कहानी का अर्थ यह भी नही है कि १६४७ के पश्चात् नए लेखको द्वारा लिखी जाने वाली हर कहानी नई है । अनुभूति के स्तर पर विभिन्न आवेग उत्पन्न होते है, जिन्हे हम भिन्न-भिन्न प्रकार से अभिव्यक्त करते है और कहानी का टैक्सचर बनता है । इस प्रकार एक कहानी बन जाती है । लेकिन जब पूर्णतया यथार्थवादी सामाजिक दृष्टि की मर्यादा एव सार्थक सामाजिक मूल्यो की सीमा मे अनुभूति के किसी आवेग को अधुनातन एव स्वाभाविक अभिव्यक्ति की गरिमा प्राप्त होती है, तो एक नई कहानी का जन्म होता है । दोनो सीमाओ के बीच ये दो ऐसी आवश्यक बातें है, जो एक-दूसरे से असम्पृक्त हैं और इन्हे भिन्न सन्दर्भों मे सोचना अनिवार्य है, नही तो 'नई' को लेकर इस प्रकार का विवाद निरन्तर चलता रहेगा और उसका कभी कोई अन्त दृष्टिगोचर नही होगा ।

६ ...

असम्पृक्त नहीं करती है, नई कहानी व्यक्ति को उसके परिवेश से मूल्यांकित करने की चेष्टा करती है। वरन् उसी सन्दर्भ मे देखने और मूल्यांकित करने की चेष्टा करती है। यह एक ऐसी यथार्थपरक दृष्टि का आग्रह है, जो पूर्व के कलावादियों एवं आत्म-परक दृष्टि रखने वाले 'अकेले' और 'अजनबी' लोगों मे नहीं थी। इसलिए, नई कहानी को एक विधा न स्वीकार कर एक दृष्टि के रूप मे ही स्वीकारा जाना चाहिए। वह दृष्टि व्यक्ति को उसके परिवेश मे देखने और उसके सामाजिक यथार्थ की सीमाओ मे मूल्यांकित करने से ही सम्बन्धित है।

कहानियो की यदि शास्त्रीय परम्परा पर हम विचार करें, तो कथा-नक का महत्व रीढ की हड्डी की भांति सिद्ध होगा। पिछले दौर की सभी कहानियो मे सुसगठित कथानक प्राप्त होते हैं और कथानक के ढाँचे पर काफ़ी ध्यान दिया गया प्रतीत होता है। यह बात स्पष्ट तौर पर कही जा सकती है कि तब कथानक का एक विशेष महत्व था। वास्तव मे कहानीकार का विशेष ध्यान कथानक पर ही रहता था। वह ऐसे कथानक की कल्पना कर कहानी के रेशे की बुनावट करता था जिसमे किसी सत्य को प्रस्तुत किया जा सके। उस सत्य पर लेखक का ध्यान इतना केन्द्रित हो जाता था कि प्रायः वह प्रयत्न यांत्रिक हो जाता था और कहानी पूर्णतया अस्वाभाविक प्रतीत होने लगती थी। हाल ऐसी कहानियाँ उस वर्ग के पाठकों के लिए अतीव मनोरंजन का क बनती थी, जो 'किस्सा' कहने और सुनने के आदी थे। उनकी धारणा थी कि रस तत्व का दूसरा नाम ही कहानी है, जो गद्य मे जाती है और पुष्ट कथानक से पूर्ण कहानियाँ ही रसाभास दे सकता ६ ·

कर युग की माँग थी और कहानीकार उस माँग को पूरा करने में संलग्न थे। इसके परिणामस्वरूप प्रारम्भ से लेकर १९३० तक जो कोई कहानी उठा ली जाए। उसमें कथानक को ही अधिक प्रधानता प्राप्त होगी।

१९३० के बाद से इस स्थिति में थोड़ा परिवर्तन होता है क्योंकि कहानी की दो धाराएँ चलने लगती हैं। एक धारा, जिसके सम्बन्ध में पीछे उल्लेख किया जा चुका है प्रेमचन्द की सामाजिक कहानियों की धारा का विकास थी। इस धारा की कहानियों में प्रेमचन्द और उनके समसामयिक कहानीकारों की कहानियों की भाँति सुगठित कथानक प्राप्त होते हैं। इस दौर की अधिकांश कहानियों में आग्रह कथानक के प्रति जितना रहा है, उतना अन्य तत्त्वों के प्रति नहीं। यह बात अवश्य है कि पिछले दौर की कहानियों की भाँति इस दौर की कहानियों में वह प्रयत्न दायित्व नहीं प्रतीत होता और उनमें स्वाभाविकता अधिक आई है। इसके साथ-साथ कहानियों की जो दूसरी धारा चलती दृष्टिगोचर होती है, जिसे हम सुविधा के लिए मनोविश्लेषणवादी धारा कह सकते हैं, उसमें कथानक के ह्रास के प्रति अधिक उन्मुखता प्राप्त होती है। इस धारा के प्रवर्तक जैनेन्द्र कुमार अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी आदि थे। इनकी कहानियों में चरित्रों एवं मनःस्थितियों के चित्रण तथा स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर जाने की प्रवृत्ति चरम रूप में लक्षित होती है। इसीलिए कथानक यहाँ गौण हो गया है। पर उन कहानियों में सामाजिक जवाबदेही नहीं थी।

नई कहानी ने कथानक के ह्रास की इस प्रवृत्ति को आगे बढ़ाया है। आज की अधिकांश कहानियों में कथानक का ह्रास ही लक्षित होता है। उनमें विशृंखलता एवं सूक्ष्म से सूक्ष्मतर की ओर जाने की तीव्र उत्कंठा दृष्टिगोचर होती है। इस रूप में कहानी के परम्परागत शिल्प का बहिष्कार करना नई कहानी का पहला कदम था। इससे कहानी का चमत्कार समाप्त हो गया। पाठकों को चौंका देने की प्रवृत्ति से

यह युग की माँग थी और कहानीकार इस माँग को पूरा करने में सलग्न थे। इसके परिणामस्वरूप प्रारम्भ से लेकर १६३० तक की कोई कहानी उठा ली जाए। उसमें कथानक को ही अतिशय प्रधानता प्राप्त होगी।

१६३० के बाद से इस स्थिति में थोड़ा परिवर्तन होता है, जबकि कहानी की दो धाराएँ चलने लगती हैं। एक धारा, जिसके सम्बन्ध में पीछे उल्लेख किया जा चुका है, प्रेमचन्द की सामाजिक कहानियों की धारा का विकास थी। इस धारा की कहानियों में प्रेमचन्द और उनके समसामयिक कहानीकारों की कहानियों की भाँति सुसगठित कथानक प्राप्त होते हैं। इस दौर की अधिकांश कहानियों में आग्रह कथानक के प्रति जितना रहा है, उतना अन्य तत्वों के प्रति नहीं। यह बात अवश्य है कि पिछले दौर की कहानियों की भाँति इस दौर की कहानियों में वह प्रयत्न यात्रिक नहीं प्रतीत होता और उसमें स्वाभाविकता अधिक आई है। इसके साथ-ही-साथ कहानियों की जो दूसरी धारा चलती दृष्टिगोचर होती है, जिसे हम सुविधा के लिए पलायनवादी धारा कह सकते हैं, उसमें कथानक के ह्रास के प्रति अधिक उत्सुकता प्राप्त होती है। इस धारा के प्रवर्तक जैनेन्द्र कुमार, अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी आदि थे। इनकी कहानियों में चरित्रों एवं मनःस्थितियों के चित्रण तथा स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर जाने की प्रवृत्ति चरम रूप में लक्षित होती है। इसीलिए कथानक वहाँ गौण हो गया है। पर उन कहानियों में सामाजिक जवाबदेही नहीं थी।

नई कहानी ने कथानक के ह्रास की इस प्रवृत्ति को आगे बढ़ाया है। आज की अधिकांश कहानियों [illegible] ह्रास ही लक्षित होता है। उनमें विशृंखलता एवं [illegible] ओर जाने की तीव्र उत्कंठा दृष्टिगो[illegible] परम्परागत शिल्प का [illegible] था। इससे कहानी [illegible]ा देने की प्रवृत्ति से

नया कहानीकार वितृष्णा करने लगा। कहानी अब न तो चमत्कारपूर्ण भावनाओं के सगुफन पर आश्रित रहने लगी और न उसने सीमित परिवेश मे चमत्कारपूर्ण इकहरे चित्रण को ही अपना लक्ष्य बनाया। आज पात्रों की विभिन्न मन स्थितियो के चित्रण को सगुफित करके भी कहानी लिखी जाने लगी है। पहले भी इस तरह के प्रयत्न होते रहे हैं, पर वे कहानियाँ समाज से कटी हुई होने के कारण विशेष रूप से उल्लेखनीय नही बन पाती थी, पर आज का यह प्रयत्न सामाजिक दायरे में बँधा हुआ होता है। यही कारण है कि नई कहानी समष्टि-चिन्तन की ओर अधिक गतिशील हुई है।

यही नही, एक प्रतीक या व्यंग्यपूर्ण रेखाचित्रों के आधार पर भी आज कहानियाँ लिखी जाने लगी हैं। पिछले दौर मे यह प्रवृत्ति या तो थी ही नही और अगर थी भी तो अत्यन्त प्रारम्भिक रूप मे और वैसी कहानियाँ न्यून मात्रा में लिखी गई थी। विश्व साहित्य मे प्रतीकात्मकता सर्वथा नई वस्तु नही है। वहाँ व्यजना की तीव्रता के लिए प्रतीकों का प्रचुर मात्रा मे प्रयोग किया जाने लगा था। पर हिन्दी कहानियो मे प्रतीको का महत्व पिछले दशक मे ही विशेष रूप से पड़ता लक्षित होता है। अल्प-काल मे ही प्रतीकों का महत्व इतना बढ गया है कि आज कदाचित बिना प्रतीकों का आश्रय ग्रहण किए कोई भी कहानी लिखी नही जाती। निस्सन्देह प्रतीको ने आज की कहानी की अभिव्यक्ति की सक्षमता एव प्रभावशीलता के स्थायित्व की गहनता मे अभिवृद्धि प्रदान की है, पर प्रयोग जितना सरल समझा जाता है, बात उतनी है नहीं। आरोपित प्रतीकों असत्य एव पूर्णतया अविश्वसनीय प्रतीको के कारण अच्छी से अच्छी [illegible] भी असफल सिद्ध हो जाती है। कमलेश्वर की कहानी 'खोई दिशाएँ' जहाँ सफल एवं सार्थक प्रतीक के प्रयोग के कारण अच्छी उल्लेखनीय कहानी बन पडी है, वही राजेन्द्र यादव की कहानी '[illegible]' आरोपित [illegible] के कारण असफल एवं प्रभावशून्य बनकर

रह गई है । नरेश मेहता की "निशाजी" कहानी भी अर्थपूर्ण प्रतीक-प्रयोग के कारण उल्लेखनीय कहानी बन पड़ी है । वास्तव में प्रतीकों के प्रयोग के सम्बन्ध में बड़ी सतर्कता आपेक्षित होती है । प्रतीकों को साधन के रूप में ही प्रयुक्त किया जाना चाहिए, साध्य रूप में नहीं । कथानक का स्थानापन्न बनकर जब यह कहानी पर आरोपित हो जाता है, वहीं कहानी का अर्थ भी समाप्त हो जाता है । प्रतीक-प्रयोग की अपनी सीमाएं हैं । कहानी में उनका प्रयोग ध्येय रूप में न होकर जब माध्यम के रूप में कलात्मकता से होता है, तो उसकी व्यंजनात्मक शक्ति एवं सार्थकता तथा अर्थ की गरिमा तीव्रतर रूप में कथ्य को अत्यधिक प्रभावशाली एवं श्रेष्ठ बना देती है, जिसमें पाठकों की चेतना को झकझोर कर रख देने की शक्ति अधिक आ जाती है । पर जहाँ कथ्य गौण हो जाता है, और प्रतीक ही कहानी का स्थानापन्न बनकर महत्वपूर्ण समझ लिया जाता है, वहाँ कहानी अपने आप नष्ट हो जाती है । प्रतीकों के प्रयोग के सम्बन्ध में एक बात और उल्लेखनीय रूप से उठाई जाती है, वह है जटिलता की । प्रायः प्रतीकों की जटिलता के कारण पाठकों के एक काफी बड़े समूह में नई कहानियों को लेकर असंतोष व्याप्त है । पिछले वर्षों अचानक जटिल प्रतीकों को लेकर कहानियों को लिखे जाने का एक सनसनीदार दौर ही अचानक चल पड़ा था, पर सौभाग्य से वह अधिक दिनों तक नहीं चल सका, क्योंकि अधिकांश रूप से यह तो स्वीकारना ही होगा कि कहानियाँ लिखी जाती हैं पाठकों के विस्तृत समाज के लिए, न कि मात्र सहयोगी कहानीकारों पर अपनी प्रतिभा अथवा ज्ञान के रौब का सिक्का जमाने के लिए । जटिल और संश्लिष्ट जीवन सूत्रों को लेकर लिखी जाने के बावजूद आज के नए कहानीकारों ने अधिकांशतः जटिलता से अपने को बचाए रखने का प्रयत्न किया है—यह संतोष का विषय है । जहाँ कहानियाँ असफल हुई हैं, वहाँ मूल में आरोपित एवं जटिल प्रतीक ही मुख्यतः कार्यरत रहे हैं, पर जहाँ कहानियाँ सफल सिद्ध हुई हैं, उन पर जटिलता एवं दुरूहता का आरोप लगाना पूरी

तरह से बेमानी लगता है। प्राय नई कहानी पर यह दोषारोपण किया जाता है कि वह रूप के लिहाज से अनगढ, विशृंखलित एवं भाव के लिहाज से अस्पष्ट एव जटिल होती जा रही है। यह बात जब जटिल प्रयोगों के कारण अपने आप असफल सिद्ध होने वाली कहानियो से हट कर नई कहानी के समूचे दौर पर फॉर्मूले के तौर पर लागू कर दी जाती है, तो आश्चर्य होता है। कोई भी कहानी जब संश्लिष्ट जीवन के कथासूत्रों एव अनुभूतियो की अभिव्यक्ति करने के प्रयत्न को लेकर अपने शरीर की रचना करती है, तो उसका पथ सपाट एवं सरल नहीं होता। वह इकतरफा भी नहीं होता। पहले की कहानियों मे हमें केवल अस्वस्थ मनोविकारों, ग्रन्थियो एव कुण्ठाओ के उलझे हुए गुजलकों की उपलब्धि होती थी, पर आज की कहानियो में हमें अनुभूतियों की समग्रता प्राप्त होती है। आज की नई कहानी युग की समग्रता को अपने परिवेश मे समेट कर व्यक्ति और परिवेश के अनेक स्तरीय सम्बन्धों को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करती है। उसमें बाह्य एव आन्तरिक दोनो ही पक्षों को गहराई से प्रकट करने एव उनका स्पष्टीकरण तथा विश्लेषण करने का प्रयत्न लक्षित होता है। नई कहानी जब व्यापक सामाजिक परिवेश, परिवर्तनशीलता, नूतन आयामों एवं संश्लिष्ट व्यक्ति की जीवन-परिधि के अन्तर एव बाह्य रेखाओ को विभिन्न स्तर पर सप्रेषित एव सम्पादित करने का प्रयास करती है, तो वह एक नई किन्तु जटिल जमीन पर अपने पाँव स्थिर करती है और नए-पुराने मूल्यो का संघर्ष इसे संकुल और जटिल ही नहीं बना देती, वरन् बौद्धिक बना देती है। ऐसी अवस्था मे नई कहानी पर जटिलता एवं दुर्बोधता का आरोप नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि यहा न तो कोई प्रतीक आरोपित किया जाता है और न उनमें अस्पष्ट बिम्ब योजना को महत्व दिया जाता है। हमें यह तो स्वीकारना ही होगा कि पिछले दौर की अपेक्षा हमारा आज का जीवन सीधा-सरल एव सपाट नहीं रह गया है और जब हम उसी यथार्थ जीवन के एक टुकड़े, संवेदना, भाव, अनुभूति या रेश को उठ

कर कहानी का रूप दे देते हैं, तो वह भी सीधी, सरल एवं सपाट नहीं रह जाती। पर इसके विपरीत दुराग्रह की धुन में जब हम जटिलता जानबूझ कर अपनाने लगते हैं, तो वहाँ यह शिकायत अपना अर्थ रखती है, जिसे नकारा नहीं जा सकता।

यहाँ सकेतात्मकता की ओर उल्लेख सायास किया गया है। नई कहानी की सर्वप्रमुख विशेषता उसकी सकेतात्मकता है। कभी-कभी तो यह प्रवृत्ति इतनी प्रमुख हो जाती है कि पूरी कहानी ही एक सकेत प्रतीत होती है (नरेश मेहता की चांदनी निशाजी तथा निर्मल वर्मा की जलती झाड़ी, कुत्ते की मौत, कमलेश्वर की जार्ज पचम की नाक और मोहन राकेश की जख्म इसी सदर्भ में देखी जा सकती हैं।) इस प्रवृत्ति के कारण जहाँ नई कहानी में अधिक सूक्ष्मता आई है, वहीं व्यजना की तीव्रता और प्रभावशीलता में वृद्धि आई है। इनका समष्टि एव व्यष्टि-चितन से कोई सम्बन्ध नहीं है। वे दोनों भिन्न बातें हैं।

नई कहानी की सीमाएँ आज के परिवर्तित नवीन सदर्भों में यहीं नहीं समाप्त हो जाते। उसके आयाम और भी विस्तृत हुए हैं। केवल एक चरित्र चित्रण को लेकर कथानक के ताने-बाने की बुनावट आज की नई चीज नहीं है। पहले भी ऐसा होता रहा है, और पिछले दोनों दौर में ऐसी अनेक कहानियाँ लिखी गई है। पर उन दोनों दौर में सुगठित कथानक के रेशों के बीच ही कोई प्रधान चरित्र फिट किया जाता था और उसकी गरिमा या महिमा का बखान होता था, पर आज की कहानी ने फिट और आरोपित एडजस्टमेन्ट के परिवेश को शिथिल कर स्वाभाविकता एव विश्वसनीयता का पथ अपनाया है। आज चरित्रों को लेकर जो कहानियाँ लिखी जाती है वे किसी पुष्ट कथानक के दायरे में बाँधे नहीं जाते। उनका अध्ययन अलग से केवल उन्हीं के चिन्तन-अभिव्यक्ति के माध्यम से किया जाता है। इस मानवीय चिन्तन या किसी विचारोत्तेजक रैम्बलिंग को लेकर आज अलग से भी कहानियाँ लिखी जा रही हैं। इस प्रकार पिछले दौर की हिन्दी कहानी से

आज की कहानी में कथानक के लिहाज से अनेक परिवर्तन आए हैं; जो विभिन्न स्तरों पर लक्षित होते हैं । आज की कहानी में गठनशीलता नहीं है । उसमें हद दर्जे तक विशृंखलता है, पर यह असंबद्धता एवं बिखराव आज की कहानियों में अस्वाभाविक रूप से नहीं उभरता । नए कहानीकार को अपने उद्देश्य तक पहुँचने के लिए किसी सुनियोजित पथ का अनुगमन नहीं करना पड़ता । वह सीधे-सादे ढंग से अपनी बात कहता है । जहाँ जटिलता या दुर्बोधता है, वह कहानीकार की अपनी नहीं, स्वयं मानव जीवन के यथार्थ एवं परिवर्तित सन्दर्भों की है ।

आज की नई कहानी में कथानक से हट कर जब हम दायरे की बात करते हैं; तो स्पष्ट है कि आज की कहानी ने अपनी सीमाओं और संभावनाओं को अधिक व्यापक एवं विराट परिवेश में अर्थ की अभि-व्यक्ति दी है। नई कहानी का वास्तविक महत्व ही इस सत्य में निहित है कि किसी टूटे विशृंखलित, आरोपित अथवा अविश्वासनीय सत्य की उपलब्धि में उसने अपनी गरिमा को झुठलाया नहीं है, वरन् एक व्यापक सामाजिक सत्य एवं यथार्थ के अन्वेषण में अपनी सारी शक्ति लगा दी है और जो नतीजे इसके सामने आए हैं, उसके सम्बन्ध में विवाद की गुंजायश नहीं रह जाती । आज जो जीवन हम जी रहे हैं, घुटन और आत्मपीड़न की जिस स्थिति का अहसास हम कर रहे हैं, निर्माण प्रगति और फ्रस्ट्रेशन की जो भावनाएँ हमें साथ-साथ अपने स्पर्श से झकझोर रही हैं, सामाजिक यथार्थ की कटुता एवं सत्यता की भयंकरता जिस प्रकार हमें निश्चेष्ट या दिशोन्मुख कर रही है, आज की कहानी इन सभी स्थितियों की कॉर्बन कॉपी है । पर इसका यह अर्थ नहीं है कि उसकी

कर प्रकृतिवादी विचारधारा (Naturalism) को स्पर्श करती है। ऐसा सोचना बातों को दूसरी ओर से जाना है। आज का नया कहानीकार एक ऐसे सन्धिस्थल पर खड़ा हुआ है, जहाँ उसके लिए पुराना टूट रहा है, नया बन रहा है, उभर रहा है। नया बनने की आकुलता में वह स्वयं भी अपनी बाहें फैलाए विराट एवं व्यापक मानवीय चेतना को आत्मसात करने की प्रयत्नशीलता में आतुर है। स्थिति यह नाजुक है। इसमें पीछे जाना या स्थिति को नकारना उसकी सारी सृजनशीलता का नाश कर सकती है, इसलिए नए कहानीकार ने चयनशक्ति की सक्षमता के सम्बन्ध में अधिक सतर्कता अपनाई है और बड़ी सावधानी से उसने सामाजिक यथार्थ की नब्ज पहचान कर उसे नए शिल्प एवं रूप-विधान में प्रस्तुत किया है। उसकी इच्छा अन्तस के उद्घाटन की भी रही है, तथा मानस के विश्लेषण की भी रही है। वैयक्तिकता की व्याख्या के साथ व्यक्ति के अस्तित्व की स्थापना की भी आकांक्षा खोजे मिल सकती है, पर इन सारी बातों से ऊपर एक बात जो सर्वाधिक उल्लेख-नीय है वह यह है कि आज के नए कहानीकार की दृष्टि सीधे समाज पर है और वह यह जानता है कि उसके ऊपर एक बड़ी सामाजिक जवाबदेही है, जिससे विमुख होना वह एक विडम्बना समझता है और आत्मा की हत्या कर आत्मप्रवंचना का शिकार बनना उसे स्वीकार नहीं है।

यही कारण है कि आज के नए कहानीकार ने समूहगत सामाजिक परिवेश को वैयक्तिक सामाजिक परिवेश के रूप में देखने और चित्रित करने तथा व्यापक अर्थ देने की कोशिश की है। उसने समाज के हर स्तर को स्पर्श कर अपने तन को पूर्ण बनाने का प्रयास किया है। इस प्रक्रिया में हो सकता है आज की कहानी आदर्शवादी न लगें। विशेषतया आदर्शवादी उस अर्थ में, जिससे हम आज तक परिचित रहे हैं। आदर्श-वाद आज की कहानी में भी है, पर वह आरोपित नहीं है, और न उस आदर्शवाद की प्राप्ति के लिए आज की कहानी के टैक्सचर का निर्माण

होता है। आज की कहानियों में यथार्थ पहले आता है, आदर्श उसी यथार्थ के मूल से प्रतिध्वनित होता है। पहले की कहानियों में इसके विपरीत होता था। वहाँ आदर्श पहले आता था, यथार्थ उसके बीच प्रतिध्वनित होता था। इसलिए पहले मात्र सहजता का आभास होता था। आज भी वह सहजता है, पर उसमें सत्यता है, अविश्वसनीयता नहीं। परिवर्तित सामाजिक सम्बन्धों और सन्दर्भों में जीवन जीने वाले व्यक्तियों की सत्ता और रचना को स्पष्ट करने के साथ ही आज के कहानीकार की दृष्टि मूल्यान्वेषण और नए मूल्यों की स्थापना के चरम बिन्दु पर है। युगबोध और भावबोध के नवीन स्तरों पर वह व्यापक परिवेश के निर्माण में संलग्न है और इसके लिए उसने यथार्थ का ही मार्ग अपनाया है। उसके सामने अन्धेरा नहीं है। जीवन की धारा से अलग होना उसके लिए मृत्यु है और जीवन के यथार्थ को पहचानना जिन्दगी।

अत हो सकता है कि आज की नई कहानी में प्रत्येक वाक्य के अन्त में कोई सूत्र न फूटे। या यह भी हो सकता है कि लिखी जाने वाली आज की कहानियों का स्वर आशा एवं निर्माण का न हो तथा निराशा, घुटन एवं अन्तर्मुखी भावनाओं के प्रकाशन का आधिक्य हो, पर यह वर्तमान जीए जाने वाले जीवन के यथार्थ की ही चरम अभिव्यक्ति है, जिसे आज के कहानीकार ने बड़ी ईमानदारी से चित्रित किया है। यह बात जरूरी है समझने के लिए कि आज का कहानीकार पिछले दौर की भाँति मसीहा नहीं है। वह समाज का भोक्ता है, उसी तरह जिस तरह सारे जन और वह उनका प्रतिनिधि होने का दावा करते हुए सत्ता हथियाने (यदि वह कोई है—जैनेन्द्र जी मुझे क्षमा करें!) की भी कोशिश नहीं करता। वह कथा लेखक है अपना, अपनी धड़कनों का, अपनी साँसों का, अपनी घुटन का, पीड़न का, जो उसकी अपनी होते हुए भी वैयक्तिक नहीं है, उसमें विराट मानवीय चेतना समाविष्ट है। इसीलिए आज की नई कहानी का दायरा अधिक व्यापक एवं विशाल

कैन्वेस पर घटित होता है; तथा नए कहानीकार की निगाहे दूर-दूर तक पहुँचती हैं।

इस बात से हालांकि अस्वीकार नही किया जा सकता कि आज की नई कहानी ने कुंठा, निराशा, पराजय एव घुटन को चित्रित नही किया हैं। इस काम को पिछले दौर म जैनेन्द्र कुमार, अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी ने भी किया था, पर उन्होने जिस रस और महत्ता के साथ इसका चित्रण किया था उससे साफ जाहिर हैं। यही उनके लिए अन्तिम सत्य था। उनकी पलायनवादी मनोवृत्ति और सामाजिक सघर्षों से घबराने की प्रवृत्ति इससे अधिक कुछ सोच-विचार सकती भी नहीं थी। पर आज का नया कहानीकार इस स्थिति के सामने माथा नही टेकता, वरन् उसे ठुकरा देता हैं। वह कुंठा, निराशा, पराजय एव घुटन का चित्रण करता भी है, तो उसकी दृष्टि मे पूर्ण तटस्थता एव निर्वैयक्तिकता व्यस्त रहती है वह इन्हे स्वयसिद्ध नही मानता। उसकी दृष्टि मे पिछले दौर की भांति किसी भी प्रकार की विकृति नही है। बल्कि सच बात तो यह है कि उसकी दृष्टि की यह स्वस्थ मनोवृत्ति आज की कहानी को नयापन देते हुए पिछले दौर की कहानी से असग ही नही कर देती, वरन् इसे एक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान कर देती हैं।

नई कहानी मे पात्रो की बातचीत पर जो बात सबसे ज्यादा महत्व रखती है, वह यह कि पिछले दौर की कहानियो मे जहाँ व्यक्ति अथवा समाज को अपने आप मे देखने की प्रवृत्ति वर्तमान थी, वहीं आज उसे उसके परिवेश मे देखने और मूल्यांकित करने की प्रवृत्ति व्याप्त है। पहले की कहानियो मे व्यक्ति की पूर्णता अथवा आत्मो

उसके सामाजिक परिवेश में उसके मानसिक अन्तर्द्वंद्वों एवं बाह्य क्रिया-कलापों का सन्तुलित चित्रण प्रस्तुत करता है, तो उसका प्रयत्न यही रहता है कि इस प्रक्रिया में व्यक्ति का व्यक्तित्व खण्डित न हो जाए, क्योंकि व्यक्तित्व को उभार कर बड़ी चेतना को समेटने का आग्रह ही आज के नए कहानीकार का प्रमुख लक्ष्य होता है। इसीलिए आज की किसी भी अच्छी कहानी में व्यक्ति किसी यांत्रिक आदर्श की प्राप्ति के लिए दिग्भ्रान्त दृष्टिगोचर नहीं होता। कहने का अर्थ यहाँ यह न लिया जाय कि इसके कारण आज की नई कहानी में व्यक्ति अनास्था, पराजय, घुटन, एवं दिग्भ्रान्त स्थितियों का शिकार नहीं है। नहीं, कहानीकार एक पर्यवेक्षक की भाँति उस प्रस्तुत किए जाने वाले व्यक्ति का निरीक्षण भर करता रहता है। जब वह दिग्भ्रमित होता है, तो वह उसकी अपनी यथार्थ गति होती है। जब वह दिशोन्मुख होता है। तो भी वह उसकी अपनी ही स्वाभाविक गति होती है। कहानीकार की यह तटस्थ एवं ईमानदार दृष्टि ही आज व्यक्ति को अधिकाधिक आत्मीयता एवं संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत करती है, जिसके कारण हम आज की कहानी के पात्रों को यथार्थ, विश्वसनीय और कॉम्प्रिहेन्सिव पाते हैं। आज के कहानीकार का व्यक्ति को उसके सामाजिक, ऐतिहासिक एवं पारिवारिक परिवेश से न काटने का लक्ष्य ही उस सामाजिक यथार्थ की स्थापना करता है जो आज की प्रत्येक कहानी में हमें यह भ्रम उत्पन्न करता होता है कि कहानी का व्यक्ति स्वयं कहानीकार ही है और कहानी का परिवेश उसके लेखक का अपना व्यक्तिगत है। स्वानुभूति का यह आश्वासन एवं विश्वास ही आज की कहानी के यथार्थ की सबसे बड़ी सफलता है और पुराने दौर की कहानी से उसे आगे ले चलती है।

बिना स्वानुभूति के स्तर पर लाए कोई भाव प्रस्तुत न करने के आग्रह के कारण भी इस तरह का मिथ्याभ्रम जन्मता है। वास्तव में एक लम्बे दौर तक पलायनवादी आत्मपरक एवं गढ़नशील झूठी स्थितियों

एवं पात्रों से हमारा इतना सम्बन्ध रहा है कि उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप नितान्त यथार्थपरक सामाजिक दृष्टि की मर्यादा कुछ तथाकथित लोगों को कनविंस नहीं कर पाती, इसीलिए वे सारी प्रक्रिया को झुटलाने का दुराग्रह करते हैं।

नई कहानी का व्यक्ति अधिक आत्मपरक, वैयक्तिक एवं सब्जेक्टिव है। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता, पर यह उस अर्थ में नहीं है, जैसा कि पिछले दौर में जैनेन्द्र कुमार, अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी आदि ने सिद्ध करने की चेष्टा की थी और वैसा ही चित्रित भी किया था। और उन्होंने व्यक्ति को समाज से काट कर पहले उसे पंगु बना दिया था, फिर उसकी शव परीक्षा की थी। उसे सेक्स और कुंठा, निराशा एवं घुटन से बीमार बता कर उन्होंने उस व्यक्ति को पहाड़ों की मनोरम वादियों में घुमाया, बर्फीली हवाओं के तीर जैसे झोंके सहन करना सिखाया, दुनिया-जहान से दूर एकान्त में रखकर सेक्स और नारी के सम्बन्ध में सोच-सोच कर मर जाने के लिए विवश किया। तब व्यक्ति की वही जिन्दगी बताई गई और सेक्स उसकी आत्मा, धर्म और लक्ष्य सिद्ध किया गया। पर आज के कहानीकार ने न तो अपनी स्थिति इतनी दयनीय बनाई और न इतना बड़ा भ्रम एवं झूठ चुपचाप निगल जाने को ही प्रस्तुत हुआ। उसमें विश्वास था, आस्था थी। उसकी दृष्टि साफ थी। उसने शव-परीक्षा के पश्चात् पंगु सिद्ध किए गए व्यक्ति को पुन. उसकी असलियत बताई, उसका सम्बन्ध फिर समाज के साथ जोड़ा और उसे उसकी जिन्दगी वापिस दिलाई। इसी के साथ दुराग्रही एवं भ्रमित लोगों की सत्ता भी समाप्त होती है और व्यक्ति को उसके यथार्थपरक परिवेश में देखने की प्रवृत्ति विकसित होती है।

अतः कहानी का व्यक्ति हो सकता है, बहुत आदर्शवादी न हो। उसमें 'दृढ़ता' भी न हो और यह भी हो सकता है कि उसमें 'युग पात्र' सकने की क्षमता न हो। पर वह जीवन और समाज के यथार्थ को

उभरा है। लेखक का अपना निशान नहीं। लेखक की स्वानुभूति मिलने के कारण अधिक सहजता एवसंवेदनशीलता से युक्त उस व्यक्ति एव परिवेश को पहचानने में हम कोई कठिनाई इसलिए भी नहीं होती क्योंकि इसमें वही व्यवहारिकता है, जो हम सामान्य रूप से देखते और समझते हैं।

आज की कहानी के विरोधियों को जब और सारी बातें साफ हो जाती हैं और उन्हें नकारने के लिए कोई और मसाला नहीं मिलता, तो वे आज की कहानियों की भाषा को लेकर हगामा मचाते देखे जाते हैं। वे आरोप लगाते हैं कि आज की कहानी की भाषा कहानी की आत्मा बनकर नहीं उभरती, उस पर आरोपित की जाती है। कुछ सुविज्ञ-जनों का तो यहाँ तक कहना है कि आज की कहानी की भाषा यथार्थवादी है ही नहीं, वह कृत्रिम है। कुछ ज्ञानी यह भी कहते सुने जाते हैं कि इन कहानियों की भाषा हिन्दी है ही नहीं, संस्कृत है। ये सभी आरोप आज की कहानी को ठीक से न समझ पाने के कारण ही हैं।

यह बात साफ हो चुकी है कि आधुनिक काल गद्य का है। कविता का क्षेत्र लगभग समाप्त हो चुका है। कहानी की दिन-रात बढ़ती हुई लोकप्रियता को देखकर नई कविता के अधिकांश कवि कहानी की तरफ आए। उन्होंने आज की कहानी को नई कविता की भाँति ही एक आन्दोलन समझा और उसी की भाँति शब्दों को तोड़ने-मरोड़ने, संस्कृत-निष्ठ बनाने अथवा कृत्रिमता के परिवेश में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया, पर यह बात सारी कहानी विधा पर नहीं लागू की जा सकती। इस स्थिति को और भी भयावह बनाने में योगदान उन कहानीकारों ने

लिया है, जिन्होंने या तो 'नई' शब्द का अर्थ ग़लत समझा है। या सही समझते हुए भी उसे तोड़-मरोड़कर मोहन राकेश के शब्दों में अपनी 'आइडेंटिटी' के लिए व्यग्रता में अनुचित ढंग से प्रयुक्त किया है। इन लेखकों की रचनाओं को देखते हुए एक बार यह सवाल ही उठाया गया कि क्या 'नई' कहानी वह है, जिसमें अंग्रेज़ी और दूसरे विदेशी शब्दों का धड़ल्ले से प्रयोग होता है। पाठकों के इस वर्ग की शिकायत बेजा नहीं थी। इधर एक विचित्र-सी प्रवृत्ति यह उभर रही है कि अपनी 'आइडेंटिटी' के लिए चमत्कृत कर देने वाले वाक्यों का सहारा लेना ज़रूरी है। इन कहानीकारों की रचनाओं में अंग्रेज़ी ही नहीं, अन्य विदेशी भाषाओं के शब्द डिक्शनरियों से खोज-खोजकर टूँसे मिलेंगे, जिनके अर्थ बिना शब्द कोष देखे कदाचित् वे भी नहीं बता सकें ! यह वस्तुतः भाषा के साथ अनाचार और साथ ही मज़ाक ही है। मात्र इसी से साहित्य की कोई विधा नई नहीं हो जाती और न उसके रचनाकार नए। किसी साहित्यिक विधा को गम्भीरता से न लेकर बौद्धिकता एवं फैशनपरस्ती के लिए ग्रहण कर किसी विशेष समय में महत्वाकांक्षियों को चकाचौंध कर देने की प्रवृत्ति से परेशान लोगों के साथ ऐसा ही होता है।

वस्तुतः भाषा अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है और उसके साथ किसी भी प्रकार का मज़ाक पसन्द नहीं किया जा सकता। शिल्प और फ़ॉर्म की शिल्पिकता का मतलब असाधारणता नहीं है और न यही कि भाषा को भी शिल्पित बनाकर मूक बनाया जा सकता है। ऐसा सोचने वाले ग़लती पर हैं और वे आज की कहानी के विकास में कुछ योगदान दे सकेंगे, या एक लम्बी दौड़ में जम रह पाएँगे, यह सन्दिग्ध है। कहने
...कता नहीं कि भाषा की रवानी उसकी प्रमुख विशेषता होगी
...न का कहानी भाषा में प्रयोग किया जाना आवश्यक होगा
...ता से अभिप्राय दुरूह भाषा से नहीं है, जैसा कि समझा
...। जब भाषा का अर्थ इसकी सरलता में निहित है। परिवेश

सन्तोष की बात यही है कि आज के अधिकांश जीवन्त सामयिक एवं प्रगतिशील कथाकार ने भाषा को यथार्थ बनाने का अत्यधिक प्रयत्न किया है। इस बात का प्रमाण ही यह है कि पिछले डेढ़ दशक में जो कहानियाँ सबसे ज्यादा पसन्द की गई हैं और जो श्रेष्ठ हैं भी, उन सभी में भाषा की यही यथार्थता लक्षित होती है। इसके साथ ही दुर्भाग्य की बात यह है कि इसी पिछले डेढ़ दशक में अनेक अच्छी कहानियाँ केवल भाषा की अराजकता के कारण ही असफल सिद्ध हुई हैं। वास्तव में नई कहानी का प्रयत्न शब्दों को एक कृत्रिम अर्थवत्ता देने के बजाय उन्हें उनके स्वाभाविक सत्य एवं ऐतिहासिक अर्थवत्ता का अन्वेषण कर नए मूल्य-मर्यादा से पुष्ट करना रहा है। इससे नई कहानी की भाषा में एक नया संस्कार प्राप्त होता है जो गढ़ा हुआ या कृत्रिम नहीं है, वरन् उसकी ऐतिहासिक परम्परा की उपज है। भाषा की भी अपनी एक संवेदनशीलता होती है, जो अभिव्यक्ति को और भी अधिक सशक्त बनाती है। नई कहानी का प्रयत्न अधिकांशतः भाषा का एक रूप बनाने के ही प्रति रहा है, जिसके फलस्वरूप उसे सरलता से पहचाना जा सकता है।

नई कहानी में आधुनिकता को लेकर बड़ी खींचतान की गई है। आज की कहानी क्या आधुनिक संवेदना वहन करने में सक्षम है या नहीं और आधुनिकता से क्या अभिप्राय है, इस बात को लेकर इधर काफी विवाद हुए हैं। आधुनिकता गतिशील होती है। आज की आधुनिकता कल के लिए ऐतिहासिकता ही होगी, यह निश्चित है। आज जिन बातों को पुरातनवादी या परम्परावादी कहकर हम नकार रहे हैं, याद रखा जाए कि एक समय विशेष में वही प्रवृत्तियाँ आधुनिक थीं। आधुनिकता वस्तुतः एक मानसिक अथवा बौद्धिक स्थिति ही है, जिसका आविर्भाव समाज की विषम एवं गहन समस्याओं से होता है। प्रायः हम कभी-कभी समकालीनता को भी आधुनिकता स्वीकार कर लेते हैं, पर यह पूरी सच्चाई नहीं है। आधुनिकता को एक सन्दर्भहीन मूल्य के रूप में नहीं स्वीकारा जा सकता, उसे परम्परा के परिप्रेक्ष्य में ही मूल्यांकित करना पड़ेगा।

आज की आधुनिकता विज्ञान और टेक्नोलाजी आदि के फलस्वरूप उत्पन्न जीवन-क्रम के प्रति एक त्वरित और निरन्तर प्रतिक्रिया है। कहानीकार में संवेदनशीलता होती है, इसीलिए आज की कहानी में यह आधुनिकता तीव्रतर रूप में अभिव्यक्त हुई है। आज की कहानी में हम यदि इस आधुनिकता के लक्षण खोजना चाहें, तो अधिक परेशानी नहीं होगी। परिवर्तित भाव-बोध, [illegible] के फलस्वरूप उत्पन्न जीवन की यथार्थता का [illegible] साथ सामञ्जस्य न कर पाने की असफलता, विज्ञान [illegible] से [illegible] स्थापित न कर सकने के कारण मानसिक कुण्ठा, 'वैज्ञानिक मानववाद' (Scientific Humanism) में आस्था एवं परम्परागत रूढ़ियों, मान्यताओं, नैतिक मान्यताओं से अलगाव, कुण्ठा और असुरक्षा, रूमानी तत्त्वों के स्थान पर यथार्थवादिता और बौद्धिकता, आध्यात्मिक दृष्टिकोण के स्थान पर [illegible] [illegible] का अभाव एवं [illegible] ([illegible]) और [illegible] [illegible] की ओर, [illegible]

जीवन के किसी लघु तथा सीधे-सादे बिन्दु पर आधारित व्यापक प्रसार, दैनिक स्थूल जीवन से ग्रहण किए गए विषय वस्तु पर ध्यान देने के स्थान पर अभिव्यक्ति की प्रमुखता, परिणामस्वरूप पुरानी भाषा की असंगतता और नई भाषा एवं शब्दावली के प्रयोग आदि इसी आधुनिकता का निर्माण करते हैं, जिसे हम आज की कहानी में स्पष्टतया उभरता पाते है।

आधुनिकता के गलत बोध के कारण आज की कहानी में अनेक विकृतियां भी आई हैं, इसे स्वीकारना होगा। प्रायः आधुनिकता के नाम पर विदेशी संस्कारों को भारतीय जामा पहनाकर जब कई कहानियों में प्रस्तुत किया जाता है, तो हँसी आती है। आधुनिकता भी कोई अजूबा नहीं है। वह एक फैशन भी नहीं है। महत्व रखने वाले मूल्यों में सामान्य एवं सर्वव्यापक होने के बावजूद आधुनिकता का स्वरूप अपनी जातीय विशेषताओं से विच्छिन्न नहीं होता। यही कारण है कि गलत भाव बोध एवं फैशनपरस्ती के रूप में स्वीकार कर आधुनिकता का प्रयोग करने वाले कहानीकार किसी भी स्तर पर सफल नहीं हो सके। केवल सतही आलोचकों ने उन्हें भले ही उछाला है, पर इससे कुछ प्राप्त नहीं होता। समाज के नवीनतम सन्दर्भों में आधुनिकता का अन्वेषण करते हुए, नवीन मूल्यों की खोज एवं स्थापना करते हुए तथा जीवन के प्रति आस्था एवं विश्वास की मांग करते हुए जो जागरूक कहानीकार समय की गति के साथ आगे बढ़ रहे हैं, प्रगतिशीलता को स्थापित करते हुए जिनकी दृष्टि साफ है और मानस स्वस्थ है, आज की कहानी उन्हीं लेखकों के हाथ सुरक्षित हैं। यहाँ यह स्पष्ट करने की आवश्यकता है कि आधुनिकता का अर्थ कहानियों में विदेशी पात्रों, संस्कृति, वेशभूषा, कुछ शब्द या विदेशी शराबों एवं रेस्तराँ का उल्लेख नहीं है। आधुनिकता का अर्थ सही जीवन धरातल की नवीनता या परिवर्तनशीलता भी नहीं है और न इसका अर्थ कोई जानता ही है। आधुनिकता की परिभाषा नई कहानी के सन्दर्भ में यदि देने की आवश्यकता

होगी तो मैं कहूँगा कि आधुनिकता एक प्रक्रिया है, मूल्य नहीं ।

जब आधुनिकता को एक मूल्य, फॉर्मूला या फ़ैशन के रूप मे स्वीकारा जाता है तो इससे एक जड़ एवं विभ्रान्त स्थिति उत्पन्न होती है और आधुनिक बोध जीवन प्रक्रिया की यथार्थ मनःस्थिति को स्पष्ट न कर संकट बोध का रूप-धारण कर लेता है । निर्मल वर्मा की कहानियाँ या उषा प्रियवदा की इधर की कुछ कहानियाँ (जो उन्होने विदेश जाने के पश्चात् लिखी हैं) इसी सन्दर्भ को स्पष्ट करती हैं । वास्तव में आधुनिकता का बोध जब कहानीकार को एक चुनौती नही प्रतीत होता और वह नवीन यथार्थपरक जीवन सन्दर्भों, सामाजिक परिवेश, अभिनव विचार क्षितिज एवं नवीन भावभूमियो के अन्वेषण एव अभिव्यक्ति के लिए प्रेरित नही करता, तो वह एक विडम्बना मात्र ही बनकर रह जाता है और सारा प्रयास भोंडा प्रतीत होता है । इसके अतिरिक्त जब कहानीकार आधुनिक बोध को बौद्धिक स्तर पर ग्रहण करते हैं, तो उसकी परिणति आधुनिकता के उद्घाटन मे नही, उसके मिथ्या-आरोपण मे होती है। यह सहज-स्वाभाविक रूप से स्वीकारना होगा कि भारतीय आधुनिकता को पाश्चात्य आधुनिकता के रेशो से 'बुनना' और फलस्वरूप नई कहानियो के सन्दर्भ में उन्हे अन्वेषित करना दुराग्रह के अतिरिक्त और कुछ नही है । पश्चिम की आधुनिकता भिन्न प्रकार की है, जो वहाँ की परम्परा से सम्बन्धित है । जब उस परम्परा का सामजस्य हम भारतीय परम्परा से नही बिठा सकते, तो वहाँ की आधुनिकता को हम अपनी आधुनिकता का लेबल कैसे दे सकते हैं ? सार्त्र, कामू, काफ्का के साहित्य में चित्रित आधुनिकता के सन्दर्भ में जब नई कहानी की आधुनिकता की चर्चा की जाती है, तो हँसी आए बिना नहीं रहती । नई कहानी की आधुनिकता के सूत्र हमें भारतीय परम्पराओं एव जीवन के सन्दर्भ मे ही अन्वेषित करने पड़ेंगे और परिवर्तनशीलता के सभी आयामो को स्पष्टतया विचारना पड़ेगा । तभी हम आधुनिकता का वास्तविक रूप अभिव्यक्त कर सकने मे सफल होंगे ।

जब हम कहते हैं कि आधुनिकता मूल्य न होकर एक प्रक्रिया है, जिसके मूल में नवीन वैज्ञानिक जीवन दृष्टि है, तो उसका अर्थ समसामयिक जीवन की गति, नवीन मानव मूल्यों, नूतन विचारभूमियों एवं भाव-स्थितियों के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म सूत्र और परिवर्तनशीलता के सारे आयामों का स्पष्टीकरण ही होता है। आधुनिक बोध को हम नई कहानी में दो भिन्न स्तरों पर लक्षित कर सकते हैं: एक जो समष्टि चिन्तन के स्तर पर प्रतिष्ठित है और दूसरा जो व्यष्टि चिंतन के धरातल पर विकसित हुआ है। यह कहना कठिन है कि नई कहानी में इन दोनों स्तरों में किस की प्रधानता अधिक है, क्योंकि अधिकांश कहानीकारों ने दोनों ही स्थितियों को अपनी कहानियों में अभिव्यक्ति दी है। मोहन राकेश की 'जगला', 'उसकी रोटी', 'मंदी' आदि कहानियाँ, नरेश मेहता की 'वह मर्द थी', निर्मल वर्मा की 'लंदन की एक रात' आदि कहानियाँ जहाँ समष्टि यथार्थ एवं सत्य का बोध अभिव्यक्त हुआ है, तो वहीं क्रमश: पाँचवें माले का फ्लैट', 'एक और जिन्दगी', जख्म', (मोहन राकेश), 'निशाऽऽजी', 'एक इतिथी', 'एक समर्पित महिला' (नरेश मेहता), 'जलती झाड़ी', 'लवर्स', 'अन्तर', 'पिछली गर्मियों में', 'पराये शहर में' (निर्मल वर्मा) आदि कहानियों में व्यष्टि चिंतन, व्यष्टि सत्य एवं व्यष्टि जीवन-दृष्टि स्पष्ट हुई है। इसके अतिरिक्त वे कहानीकार हैं, जिन्होंने आधुनिकता को अधिकांशत: समष्टिगत आधार पर ही समझने और स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। धर्मवीर भारती की 'यह मेरे लिए नहीं', 'गली का आखिरी मकान', 'सावित्री नं० २', कमलेश्वर की 'खोयी हुई दिशाएँ', 'दिल्ली में एक मौत', अमरकान्त की 'असमर्थ हिलता हाथ', 'हत्यारे', 'डिप्टी कलक्टरी' आदि कहानियों में यही बात देखी जा सकती है। ऐसी बात नहीं है कि इन कहानीकारों ने दूसरे पक्ष को अछूता छोड़ दिया है, पर वह इस रूप में भी नहीं है कि उससे परस्पर सन्तुलन की स्थिति स्पष्ट की जा सके।

लेकिन यहाँ जोर देकर यह बात मैं स्पष्ट करना चाहता हूँ कि

आधुनिकता का यह विभाजन नही है और न इस तरह का विभाजन कोई अर्थ रखता है। यह केवल जीवन-दृष्टि का प्रश्न है और उसे अभिव्यक्ति देने के विभिन्न आयाम हैं, जिन्हे स्थिति की अनिवार्यता एवं माँग से असम्पृक्त करके नही देखा जा सकता। महत्वपूर्ण बात यह होती है कि आधुनिकता के समावेश से कहानी के संश्लिष्टि गुणो मे कितनी अभिवृद्धि हुई है। यह एक माँग है और जब यह पूरी हो जाती है, तो यह बात अर्थ नही रखती कि आधुनिक बोध समष्टिगत आधार पर अभिव्यक्त हुआ है या व्यष्टिगत आधार पर। मोहन राकेश की 'मिस पाल' या 'सुहागिनें', नरेश मेहता की 'एक शीर्षक हीन स्थिति' या 'वर्षा-भीगी' कमलेश्वर की 'जो लिखा नही जाता' या 'ऊपर उठता हुआ मकान', निर्मल वर्मा की 'कुत्ते की मौत' या 'माया दर्पण', रवीन्द्र कालिया की 'नौ साल छोटी पत्नी' या 'भास', ज्ञान रजन की 'शेष होते हुए' या 'पिता', जगदीश चतुर्वेदी की 'मुर्दा औरतो की झील' या 'क्रॉस' तथा ममता अग्रवाल की 'छिटकी हुई जिन्दगी' आदि कहानियो में यदि सूक्ष्मता से खोजा जाए, तो दोनो ही स्थितियो को प्राप्त किया जा सकता है, पर इन कहानियों का महत्व उनके संश्लिष्टि होने से है और आधुनिक संचेतना के यथार्थपरक परिवेश के स्पष्टकीरण से ही है, न कि आधुनिकता के विभाजित कृत्रिम धरातल के समावेश से।

नई कहानी मे जब मानव-मूल्यो की बात की जाती है, तो उसका अर्थ समकालीन सामाजिक परिवेश एवं समसामयिक जीवन की गति के भीतर उभरते एवं स्वरूप ग्रहण करते प्रगतिशील तत्वों से ही होता है। इसलिए नई कहानी का मूल स्वर मानवतावादी है। यह

कहने का अभिप्राय नहीं है कि इस प्रकार नई कहानी कल्याणकारी अथवा रामराज्य की वन्दना कर सोद्देश्यता को सीमित कर देती है। वस्तुत सार्वभौमिक मानवतावाद को कहानियों मे आधार प्रदान कर हम उनकी सर्व-जनीनता मे ही वृद्धि नही करते, समूचे विश्व को एक इकाई मानकर मानव की समग्रता का निर्माण भी करते है। मनुष्य की सम्पूर्णता ही उसका वास्तविक प्रतिमान हो सकता है। प्रत्येक मानव मे पाशविकता के साथ दिव्यता भी है। इन दोनो के मध्य मे कुछ न-कुछ ऐसा अवश्य है, जो मानवीय है, जिसे नैतिकता, शीलता, संस्कृति दिव्यता, कला, एवं सौन्दर्य बोध से सम्बन्धित करके देखा जा सकता है। इस मानवीयता का यथार्थ चित्रण करने का ही नई कहानी प्रयत्न करती है और यही उसका मानवतावाद है। मानवतावाद वस्तुत स्थिर न होकर निरन्तर परिवर्तनशील रहता है। वर्तमान मनुष्य को विकास की एक कड़ी स्वीकार कर भावी मनुष्य को विकास की अगली कड़ी के रूप मे स्वीकारा जा सकता है। अरविन्द ने भी स्वीकारा है कि विकास की स्वाभाविक परम्परा मे जैसे पशुता से मनुष्यत्व की स्थिति आई है, ठीक उसी प्रकार हम इस स्थिति से भी आगे जाएंगे। वस्तुत हमे यह स्वीकार लेना चाहिए कि वर्ग विभाजन के कारण अभी तक मनुष्यता के पूर्ण गुणो का सर्वांगीण विकास अभी तक नही हो पाया है और अगर हुआ भी है, तो वह एकांगी और अपूर्ण है। वर्गहीन समाज मे ही मनुष्य के आन्तरिक गुणो का पूर्ण विकास सम्भव हो सकता है। मनुष्य के समस्त आन्तरिक विकास का केन्द्र यथार्थपरक सामाजिक परिवेश ही हो सकता है और जब नई कहानियाँ इसी परिवेश को अभिव्यक्ति देती है, तो यह बात अनिवार्य हो जाती है कि नया कहानीकार मानवतावादी दृष्टिकोण का मूल स्वर पहचाने और उसके प्रति आस्थावान् होकर मानव-मूल्यो को उभारे तथा उनका स्वरूप निर्धारण करे। इसे तथाकथित आदर्शवाद से सम्बन्धित करके देखना दुराग्रह मात्र होगा।

यह बात किसी अजूबे के रूप मे स्वीकारी जानी चाहिए। यह युग

परिवर्तन में सजग एवं सचेत रहकर नवीन मानव-मूल्यों एवं परिवर्तित अवस्थाओं को सहजता से स्वीकार लेने की अनिवार्य माँग थी, जिसका दायित्व निर्वाह करने में नई कहानी कहाँ तक सफल रही है, इसका प्रमाण 'यह मेरे लिए नहीं', 'सावित्री न० २', 'हरिनाकुस का बेटा', 'गुल की बन्नो' (धर्मवीर भारती) 'मलबे का मालिक', 'जंगला', 'फटा जूता', 'हक हलाल' (मोहन राकेश), 'दुर्गा', 'वह मर्द थी' (नरेश मेहता), 'दिल्ली में एक मौत', 'रुकी हुई जिन्दगी', 'बदनाम बस्ती', 'ऊपर उठता हुआ मकान' (कमलेश्वर), 'ज़िंदगी और जोंक', 'डिप्टी कलक्टरी', 'हत्यारे', 'एक असमर्थ हिलता हाथ' (अमरकान्त), 'हंसा जाई अकेला' (मार्कण्डेय), 'चीफ़ की दावत' (भीष्म साहनी), 'बड़े शहर का आदमी' (रवीन्द्र कालिया), 'फ्रेम के इधर और उधर' (ज्ञानरंजन), 'छिटकी हुई ज़िन्दगी' (ममता अग्रवाल), 'मुर्दा औरतों की झील' (जगदीश चतुर्वेदी) तथा 'आख़िरी बुर्क़ा' (अनन्त) आदि कहानियाँ हैं।

इस सम्बन्ध में दृष्टि और दिशा की बात पिछले दिनों कई लोगों को काफी परेशान करती रही हैं। कहानीकार की दृष्टि और दिशा के सम्बन्ध में कोई फतवा देना इसलिए बहुत अर्थहीन लगता है क्योंकि यह बात स्पष्ट है कि इसे सीमाओं में नहीं बाँधा जा सकता और लेखक की प्रतिबद्धता यथार्थ बोध के साथ सम्पृक्त होकर विचारों के प्रति आस्थावान होती है, मोटे तौर पर यदि कहना चाहें, तो कह सकते हैं कि परिवर्तित परिस्थितियों की सहजता को बिना किसी कुंठा या आस्था-हीनता के स्वीकार लेना एक महत्वपूर्ण चीज़ है। दृष्टि के स्वस्थ होने एवं दिशा के आस्थापूर्ण होने का अभिप्राय यह नहीं है कि नई कहानी किसी यन्त्र परिचालित युटोपिया का निर्माण करती है। उसका अर्थ इतना ही होता है, जैसा पीछे स्पष्ट किया जा चुका है, अस्वस्थ पक्षों का उद्घाटन करने, विकृत मनःस्थितियों का चित्रण करने और गद-गियों को शब्दार्थ देने में दृष्टि का स्वस्थ रहना और दिशा का निर्माण-कारी होना अनिवार्य होता है। नई कहानी में सोद्देश्यता और सामाजिक

दायित्व का निर्वाह इन्हीं सीमाओं के मध्य सम्भव होता है।

यहीं पर भी कहना आवश्यक है कि कहानी को 'नई' की संज्ञा दी जाए या न दी जाए, की बात से हटकर यह समझ लेना चाहिए कि कहानी की अपनी एक व्यक्तिगत जिन्दगी होती है, जिसे किसी भी रूप में अस्वीकारा नहीं जा सकता। कहानी की जिन्दगी—मेरा अभिप्राय है, *कहानी का मूल स्वर यानी उसकी आत्मा, जिसका संकेत ऊपर हो चुका है।* कहानी का जो भी उद्देश्य हो, पर यदि लेखक के पास अपना कोई मानवतावादी दृष्टिकोण नहीं है, तो समाज की विघटनकारी शक्तियों एवं प्रतिक्रियावादी तत्वों को गहराई से पहचानकर उन्हें उभारने एवं प्रगतिशील तत्वों को चित्रित करके नवीन मूल्य एवं सत्यान्वेषण करने का दावा भी *स्वयमेव असत्य सिद्ध हो जाता है।* कहानी किसी मदारी के जमूरे की भाँति नहीं है, जिसे जब चाहा, भानुमती के पिटारे में बन्द कर दिया और जब चाहा, सलाखों पर बिना किसी सहारे एक पाँव चलकर नचा दिया। कहानी हमारी अपनी जिन्दगी का एल्बम है, *जिसमें संश्लिष्टता होने पर हम अपने को सही अर्थों में पूर्ण नग्नता से* देखते हैं। नग्नता से यहाँ मेरा अभिप्राय किसी प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण से नहीं है। मेरा अभिप्राय उस दृष्टि से है, जो यथार्थपरक सामाजिक परिवेश को पहचानने, मनुष्य को उसके सामाजिक यथार्थ की *सीमाओं में देखने और मूल्यांकित करने की क्षमता रखती है।*

इस प्रकार स्पष्ट रूप में कहा जा सकता है कि मानवतावादी दृष्टिकोण उस व्यापक परिवेश में देखने का प्रयत्न नई कहानी करती है, जहाँ तक इस सृष्टि का विस्तार है। इसकी सीमाएँ गलियों, मुहल्लों, कस्बों, *शहरों या तथाकथित अंचलों में नहीं बाँधी जा सकतीं क्योंकि* मानवतावाद मनुष्य की दृष्टि से सम्बन्धित है और मनुष्य-मनुष्य के विभाजन का यह आधार कतई नहीं हो सकता। बात यह है कि नई कहानी में जब मानववाद की चर्चा उठाई जाती है, तो इसका सीधा अर्थ यह स्वीकारना होता है कि मनुष्य केवल घृणा का पात्र नहीं है,

अकेलेपन की चादर ओढ़े पराजय एवं घुटन में वह वर्तमान से असम्पृक्त नहीं हो गया है और न वह ऊपर-से-नीचे तक अस्वस्थ ही है। नई कहानी यह स्वीकार करती है कि व्यक्ति का अपना एक भिन्न अस्तित्व होता है, पर वह उसके यथार्थपरक सामाजिक परिवेश से कटा हुआ नहीं है। इसलिए नई कहानी किसी एक व्यक्ति की न होकर सम्पूर्ण युग की बनने का आग्रह करती है और सारे मूल्य व्यापक परिवेश में ही अभिव्यक्ति पाते हैं। इस प्रकार उनके चित्रण का मूलाधार—यानी कि मानवतावाद यथार्थ के प्रति आस्था एव आगत के प्रति आशावाद से घनिष्ठतम रूप में सम्बन्धित है। मानवतावाद इस बात को स्वीकारता है कि मनुष्य की सम्पूर्णतम इकाई ही उसका वास्तविक प्रतिमान है और नई कहानी इसे ही स्पष्ट करने का प्रयत्न करती है, इसलिए व्यक्ति एक इकाई के रूप में अपना अलग अस्तित्व रखते हुए भी अपने यथार्थपरक सामाजिक परिवेश से कटा नहीं रह पाता।

आस्था से मेरा अभिप्राय जीवन और भविष्य के प्रति लेखकीय विश्वास से ही है। खण्डित मानव, कुण्ठाग्रस्त अथवा आस्थाहीनता द्वा दिखाकर 'किताबी' मानवों की बात मैं नहीं करता। मेरा कहना यह कि साहित्य सौन्दर्यबोध का माध्यम है। वह विषमताओं एव समका- लीन संकट से संघर्ष करने की प्रेरणा, बिना तथाकथित रूप में आद- वादी बने, देने का मार्ग है। नई कहानी इस सन्दर्भ में मनुष्य को पूर्ण- रूप में देखने और इसकी सम्पूर्णता को अभिव्यक्ति देने का ही दूसरा नाम है। यह बात केवल आस्था से ही सम्बन्धित है और तभी सम्भव भी हो सकती है।

पिछले कई दशाब्दियों में हम देखें, तो विघटनकारी शक्तियों को पहचान पाने की असमता, मानव मूल्यों को न उभार पाने की असमर्थता, मनुष्य को उसके सामाजिक यथार्थ के भीतर देखने की दृष्टि और आस्थाहीनता ने जोड़-तोड़ में आने वाले कितने ही कहानीकारों को असामाजिक 'मृत्यु' की नियति प्रदान की है। कुछ के लिए यह 'अच्छी स्थितियाँ' प्राप्त कर लेने, कुछ के लिए 'अच्छी पत्नियाँ' या 'पति' प्राप्त करने के लिए और कुछ को अपना व्यवसाय चलाने के लिए यह 'विरासत' माध्यम के रूप में ही प्राप्त हुआ और उसके बाद वे भूल गये कि उनका साहित्य के साथ भी कोई सम्बन्ध है। उन्हें तब इतना ही स्मरण रहता है। उन्हें यांत्रिक रूप में सुबह से शाम तक बस लिखते जाना है कि किन पत्रिकाओं में कहानी प्रकाशित हो रही है, कहाँ भेजनी है और कहाँ कालम समाप्त हो रहा है। इसके लिए जो आंशिक साहित्यिक सम्बन्ध होना चाहिए, उनकी पहुँच वहीं तक होती है और चूंकि महत्वाकांक्षाएँ भी बहुत बड़ी-बड़ी होती है, इसलिए कभी-कभी मिल-जुलकर मिडियॉक्रिटी का आन्दोलन शुरू कर और फिर असफलता की नियति लेकर अन्धेरे-बन्द कमरों के जुगनू बन जाते हैं।

प्राय. नई कहानी के वैचारिक स्तर एव दर्शन को लेकर प्रश्न उठाए जाते हैं और विवाद खड़े होते हैं। ज्ञानीजनों का कहना है कि नई कहानी का अपना न कोई दर्शन है और न वैचारिक स्तर है, जो है भी वह सार्त्र, कामू या काफ्का आदि पश्चिमी लेखकों से उधार लिया गया है, उसे भारतीय सन्दर्भ में देखना भूल है। इन बातों को नई कहानी को 'प्रतिष्ठित' करने के उत्साह मे उपेक्षित नहीं किया जा सकता।

पिछले सत्रह-अठारह वर्षों में अनेक ऐसे कहानीकार हुए हैं, जिनकी रच-
नाओं में यह बात सत्य सिद्ध होती है पर उन्हें नई कहानी की प्रतिनिधि
रचनाएँ स्वीकारना उस दुराग्रह एवं कुत्सित मानसिकता का द्योतक
है, जो नई कहानी का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकारने को प्रस्तुत नहीं है।
वास्तव में इन तथाकथित कहानीकारों की रचनाएँ नई कहानी की परम्प-
रा से ही नहीं, जीवन की मूल भावधारा से भी इसलिए कटी हुई हैं,
क्योंकि उसमें अस्वस्थ मानसिकता अकेलेपन एवं अजनबीपन की लादी
गई मौकितिरता, आस्थाहीनता एवं दिमागी कुण्ठा आदि प्रवृत्तियाँ जीवन
के बारीक रेशों से न खोजे जाकर फॉर्मूले के रूप में ऊपर से लादकर
कहानी का फॉर्म देने की चेष्टा की जाती है। ये कहानियाँ आधुनिक
मयखानों, कॉफी हाउसों या फिर स्क्वायर और पर्वतीय डाक बंगलों में
रूप लेती हैं और चौरास्ती, स्कॉच, बीयर या कॉफी पीते हुए पात्र
अस्तित्व की चिन्ता में समस्त हवा में मुक्के उछालते हुए या शीशे की
गिलासें तोड़ते हुए पाए जाते हैं और मजा यह है कि उस पर समष्टिगत
चिन्तन का लेबल लगाने की वही नापाक कोशिश की जाती है. इसलिए
डॉ० नामवर सिंह जैसे मूर्धन्य आलोचक अपनी सिद्धान्तवादिता की
कसौटी कभी तो कमलेश्वर के साथ सम्बद्ध करते हैं कभी राजेन्द्र यादव
के साथ, कभी मार्कण्डेय के साथ और अन्त में निर्मल वर्मा को अन्तिम
सत्य मानकर मसीहाओं की भाँति कभी प्रक्रिया, कभी मूल्य, क
प्रगतिशीलता, कभी प्रतिक्रियावादिता, कभी दायित्व बोध के निर्वाह औ
कभी उपेक्षा को उद्देश्य सिद्ध कर फतवे देने लगते हैं।

वास्तव में यह कलात्मक कौशल के झीने आवरण को भेदने की
असमर्थता का ही परिणाम होता है। इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय बात
यह है कि नई कहानी के अपने जीवन दर्शन का सुनिश्चित स्वरूप न
होना पूरे साहित्य से सम्बन्धित है। आज हमारे भारतीय समाज में
को लेकर इतनी विरसता की स्थिति व्याप्त है कि हम कोई दिशा
ने में असमर्थ रहते हैं। आज की परिवर्तित स्थितियों, सर्वांग

सन्दर्भों, अभिनव यथार्थपरक सामाजिक परिवेश में व्यक्ति की जो स्थिति हो गई है और उसके सोचने-समझने के स्तर पर संक्रमण की जो स्थिति आई है, उसे दर्शन के सूत्रों में बाँधने या कोई वैचारिक स्तर प्रदान करने की आधुनिक असमर्थता एक बहुत बड़ा कारण है कि हम आज भी बुद्ध, शंकराचार्य या विवेकानन्द की ओर देखते है, पर बुद्ध भी आवश्यकता को पूर्ण करने वाला न पाकर पश्चिम की ओर देखते है और उनका भारतीयकरण करने का प्रयत्न करते है। किन्तु यह कहने का अभिप्राय नही है कि नई कहानी पश्चिम की अनुकृति है। कहना मैं यह चाहता हूँ कि उन मानदण्डो या स्तरो को, जिन पर आधुनिक पश्चिमी दार्शनिको एव विचारको ने अपने यहाँ के जीवन को देखने या समझने की दृष्टि निर्मित की है, हमने पूर्णतया उपेक्षित या विस्मृत नहीं किया है। चूंकि हमारे आधुनिक जीवन की परिवर्तनशीलता का एक बहुत बड़ा हिस्सा पश्चिमी चेतना के सस्पर्श और प्रभाव के कारण ही हुआ है। इसलिए उस दर्शन या वैचारिक स्तर में अनेक ऐसी बाते सरलता से प्राप्त हो जाती हैं, जिन्हें लेकर नई कहानी ने अपना सर्वथा एक नया जीवन दर्शन गढ़ा है, जिसे अभी और सपुष्ट होने और स्पष्ट होने की आवश्यकता है, इसे अस्वीकारा नही जा सकता।

अन्त मे यह कह कर इस चर्चा को समाप्त करूँगा कि नई कहानी का आत्म-सघर्ष नई कविता के आन्दोलन की भाँति नहीं है। पिछले दस दशक मे अनेक कवि कविता के क्षेत्र से कहानी क्षेत्र की ओर आए हैं और बहुत अच्छी कहानियाँ लिखी हैं। जिनके सम्बन्ध मे दो राय नहीं हो सकती। किन्तु आने के साथ ही शाश्वत सत्य, आस्था और सनातन

किया जा सकता है। नई कविता का सम्बन्ध मानव जीवन से बस सफरी है, क्षणिक है, इसीलिए सतही है, जबकि नई कहानी समुद्र की अतल गहराइयों से मोती बीन लाने के समान एक उपलब्धि है, जिसने यथार्थ-परक सामाजिक परिवेश के विराट एवं व्यापक आयामों के संस्पर्श से अपने को एक सुनिश्चित रूप देकर प्रतिष्ठित किया है। इसे बहुत से कवि-कहानीकार चाहे स्वीकारें न, पर इस स्थिति को उन्होंने यथार्थ ढंग से पहचान लिया है। ऐसा इधर उनकी कहानियों को पढ़कर लगता है और उनमें जातीय गुणों की खोज की जा सकती है। हो सकता है कि अनेक कवि-कहानीकारों की कहानियाँ इसका अपवाद सिद्ध हों क्योंकि हो सकता है कि कवितानुमा कहानियाँ लिखकर वे नई कविता की अहं-वादी, बौद्धिकताजन्य, व्यक्तिमूलक एवं पलायन की प्रवृत्ति को नई कहानी पर लादकर यह सिद्ध करने की चेष्टा कर रहे हैं कि वास्तव में नई कविता का गद्य रूप भी नई कहानी है, जिसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसमें यथार्थपरक सामाजिक परिवेश और जातीय संवेदना के गुण हों। बहरहाल यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए कि नई कविता का आन्दोलन मात्र बेबुनियाद स्वीकृति का था, जिसे ठीक ही अस्वीकारा गया, जबकि नई कहानी का आत्म-संघर्ष तकसंगत प्रतिष्ठा का प्रश्न था, जिसे उचित रूप में मर्यादा दी गई है।

किया जा सकता है। नई कविता का सम्बन्ध मानव जीवन से बस सफरी है, क्षणिक है, इसीलिए सतही है, जबकि नई कहानी समुद्र की अतल गहराइयों से मोती बीन लाने के समान एक उपलब्धि है, जिसने यथार्थ-परक सामाजिक परिवेश के विराट एवं व्यापक आयामों के सम्पर्क से अपने को एक सुनिश्चित रूप देकर प्रतिष्ठित किया है। इसे बहुत से कवि-कहानीकार चाहे स्वीकारें न, पर इस स्थिति को उन्होंने यथार्थ ढंग से पहचान लिया है। ऐसा इधर उनकी कहानियों को पढ़कर लगता है और उनमें जातीय गुणों की खोज की जा सकती है। हो सकता है कि अनेक कवि-कहानीकारों की कहानियाँ इसका अपवाद सिद्ध हों क्योंकि हो सकता है कि कवितानुमा कहानियाँ लिखकर वे नई कविता की अहं-वादी, बौद्धिकताजन्य, व्यक्तिमूलक एवं पलायन की प्रवृत्ति को नई कहानी पर लादकर यह सिद्ध करने की चेष्टा कर रहे हैं कि वास्तव में नई कविता का गद्य रूप भी नई कहानी है, जिसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसमें यथार्थपरक सामाजिक परिवेश और जातीय संवेदना के गुण हों। बहरहाल यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए कि नई कविता का आन्दोलन मात्र बेबुनियाद स्वीकृति का था, जिसे ठीक ही अस्वीकारा गया, जबकि नई कहानी का आत्म-संघर्ष तर्कसंगत प्रतिष्ठा का प्रश्न था, जिसे उचित रूप में मर्यादा दी गई है।

आत्म-संघर्ष एवं नए आयाम

O

यह बात तो निर्विवाद से स्वीकार करनी होगी कि कहानी में जीवन का यथार्थ अभिव्यक्ति पाता है, पूर्ण मानवीय सचेतना के साथ और उसका यथार्थ व्यापक रूप से सामाजिक होता है। कहानी का विषय प्रमुखतः मनुष्य के सामाजिक जीवन से सम्बन्धित होता है, जो अनेक विषमताओं, द्वन्द्वों एवं संघर्षों में घिरा शोषण का शिकार बना रहता है और उपेक्षणीय एवं दयनीय जीवन होता है। कहानी इस प्रकार बाह्य यथार्थ को आधार मान कर चलती है और उसका पूर्ण कलागत ईमानदारी से चित्रण करती है। वह एक विषयीगत दर्पण के समान है, जिसमें बहुमुखी मानवीय समस्याओं का चित्रण होता है। यह वर्गगत चेतना का एक कल्पनापरक रूप है। इस प्रकार कहानी में उठाई जाने वाली समस्याओं का चयन बाह्य संसार से नहीं होता, वरन् निश्चित वर्ग-मनोविज्ञान की गहराइयों से होता है। एक जीवन्त कहानीकार अपने वर्ग एवं समाज की परिधि से पलायन कर किसी और का चित्रण कर ही नहीं सकता। प्रत्येक कहानीकार निश्चित वर्गों की समस्याओं, विचारों और भाववेगों को अभिव्यक्त करता है। यदि कोई लेखक ऐसा नहीं कर पाता है, तो मात्र इसीलिए कि पूँजी-

वादी समाज एवं बुर्जुआ संस्कृति के सम्मुख उसकी असमर्थता सामने आती है और अपनी चेतना को विकसित कर वह अपने को पूर्वाग्रहों से मुक्त कर सकने में असमर्थ पाता है। वस्तुतः कहानी की सफलता के लिए यह स्थिति कहीं सहायक होती है और जब तक उस समाजवादी व्यवस्था (कांग्रेसी समाजवाद नहीं !) की पूर्ण स्थापना नहीं हो जाती, जिसमें जीने और विकास करने का सबको समान अवसर मिले, वर्ग-वैषम्य तथा सामाजिक एवं आर्थिक असमानता नहीं समाप्त हो जाती, जिससे बुर्जुआ मनोवृत्ति एवं पूंजीवादी प्रभाव अपनी सर्वव्यापी महत्ता का प्रगतिशील सहज सामाजिक चेतना में विलय कर दें, तब तक यह सोचना कोई अर्थ नहीं रखता कि कहानी में हम व्यापक प्रगतिशील मानवीय संवेदना को उभारने में पूरी तौर पर सफल हो रहे हैं ? आज जिन कहानियों को हम प्रगतिशील कहते हैं, उनका दायरा इतना व्यापक नहीं है, जितना होना चाहिये और उनकी अर्थ-गहनता उतनी गम्भीर नहीं है, जितनी होनी चाहिये—यह स्वीकारने में कोई संकोच नहीं होना चाहिये। इसका अर्थ यह नहीं लगाना चाहिये कि हिन्दी में प्रगतिशील चेतना को अभिव्यक्ति देने वाली कहानियाँ नहीं लिखी जा रही हैं, पर उनकी संख्या बहुत कम होती है, विशेषतः प्रतिक्रियावादी तत्वों को महत्व देने वाली कहानियों की तुलना में। इसके साथ एक कठोर सच्चाई यह भी है कि कितने ही प्रतिक्रियावादी कथाकार फैशन के तौर पर प्रगतिशीलता का मुखौटा लगाकर नारे लगाने की प्रक्रिया में संलग्न होते हैं, जिसका पर्दाफाश स्वयं उनकी कहानियाँ करती हैं, उनमें चित्रित उनकी मनोवृत्तियाँ करती है।

वे असल में यह तो समझते नहीं, या समझते हुए जानबूझ कर झुठलाना चाहते हैं कि कहानी में वर्णित वर्ग-संघर्ष वास्तव में कुछ और नहीं, दासता एवं शोषण तथा समस्त शक्तियों के केन्द्रीकरण की आयडियोलॉजी के विरुद्ध जन-समाज का संघर्ष ही है। यह संघर्ष अधिक व्यापक अर्थों में धार्मिक रूढ़ियों, निर्दयता एवं अत्याचार का भी प्रतीक बन

जाता है। संसार में प्रत्येक चीज गतिशील है, परिवर्तनशील है और उसका अपना इतिहास है। सामाजिक सामग्री, जिसका कहानीकार चित्रण करता है, भी इस नियम का अपवाद नहीं है। मनुष्य के सामाजिक जीवन, जैसा कि वह यथार्थ में है, के प्रति यदि कहानीकार ईमानदार रहना चाहता है, तो उसके लिए इन सब तथ्यों को अपनी रचनाओं में स्थान देना आवश्यक सा हो जाता है। पर उसका यह वर्णन एक कलाकार की ही भांति होना चाहिए, न कि एक वैज्ञानिक की भांति। मानव जीवन के व्यापक परिप्रेक्ष्य व उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उसे उन द्वन्द्वों एवं संघर्षों का वर्णन करना चाहिए, जो वर्गों को समूल नष्ट करने के लिए प्रारम्भ किये जाते हैं और जिनका उद्देश्य जीवन स्थितियों को परिवर्तित करना और सम्पूर्ण मानवता की आध्यात्मिक एवं नैतिक संभावनाओं में प्रगतिशीलता लाना होता है। हमें एक श्रेष्ठ कहानी में भविष्य को निरखने और वर्तमान की क्षमता के साथ भूत को भी समझाने की सामर्थ्य होनी चाहिए।

किसी भी विषयवस्तु पर विज्ञान अथवा इतिहास हमें चाहे जितना पीछे ले जाए, उसकी प्रगतिशीलता की प्रवृत्ति तथा उसका बुर्जुआ दृष्टिकोण स्पष्टतया देखा जा सकता है। प्रॉलीतेरियन तानाशाही बड़े लम्बे संघर्ष एवं अत्याचार के बाद ही स्थापित किया गया था, जिसका प्रथम सूत्र ही सामाजिक असमानता में अन्तर्निहित है। वर्ग-संघर्ष का आधार यहीं से निर्मित होता है। प्रत्येक प्रगतिशील एवं सजग सामाजिक चेतना वाले कहानीकार का यह दायित्व हो जाता है कि विश्व संस्कृति के पूरे इतिहास के माध्यम से वह प्रॉलीतेरियन क्रान्ति के मूल-सूत्रों को समझे और उस समाजवादी विचारधारा का प्रतिपादन करे, जो आज के वर्ग वैषम्य, आर्थिक शोषण, सामाजिक असमानता एवं पूंजी के केन्द्रीकरण की स्थिति में सामाजिक रूप-विधान की परिवर्तनशीलता को अनिवार्य करते हैं। उसे अपनी प्रत्येक कहानी में उन सामाजिक विचारों के अधिकतम प्रगतिशील तत्वों को प्रकाश में लाना चाहिए, जो शोषित लोगों

है। जब कहानी जीवनगत भावनात्मकता को छोड़कर कलात्मकता को प्रश्रय देती है, तो वह दूसरे शब्दो मे अपनी आत्मा का हनन ही करती है। किसी कहानी की श्रेष्ठता जीवन-शक्तियो के आधार पर ही स्वीकारी जा सकती है, क्योंकि जीवन मे न तो स्थिरता ही है और न अपरिवर्तनशीलता है। वह गतिशील एवं विकसनशील है, किन्तु हम अपनी प्राचीन परम्पराओ को नही भूल पाते। इस प्रकार प्राचीनता और नवीनता अर्थात् पीढियो का सघर्ष उत्पन्न होता है। सजग सामाजिक चेतना सम्पन्न कहानीकार इस सघर्ष का चित्रण यथार्थ परिवेश मे कर प्रगतिशील तत्वो को उभारने का प्रयत्न करता है। वह मनुष्य का विश्लेषण उसके पूर्ण रूप मे ही करता है और मानव-विकास-क्रम का इतिहास पूर्ण रूप मे निर्धारित करता है। वह उन छिपे नियमो को उद्घाटित करने का प्रयत्न करता है, जिनके आधार पर मानवी आस्था एव सम्बन्ध निश्चित होते हैं। आज की उलझनो, कठिनाइयों, कुठायो एवं निराशा के दमघोट वातावरण की भयकरता को न्यून करके अथवा उन भौतिक एव नैतिक आयामो, जिनके परिवेश मे आज का मानव गहन रूप से आबद्ध है, अधकारपूर्ण सीमाओ की उपेक्षा करके जीवन्त कहानीकार किसी को थोथी और असत्य सांत्वना देने का प्रयत्न नही करता क्योंकि वह यथार्थ नहीं है।

सृष्टि का स्वय अपने मे कोई अस्तित्व है, इसीलिए वह एकता के सूत्रों मे बँधा है। इस धारणा को प्रगतिशील कथाकार भ्रांतिपूर्ण समझता है। उसके अनुसार सृष्टि की एकता भौतिकता के कारण ही है, इसीलिए वह अपनी कहानियों मे आदर्श एव कल्पना को असत्यता को अस्वीकार कर व्यावहारिक सत्य एव कठोर यथार्थ को महत्व देता है। वास्तव में अपने दायित्व के प्रति सजग कहानीकार का कार्य सामाजिक विकास के मार्ग मे आने वाले अन्धविश्वास एवं रूढ़िवाद की अड़चनों को दूर करना ही है। और समाज को शोषण के बन्धनों से मुक्त करते हुए काल्पनिक सुखों की अनुभूति के भ्रमजाल को दूर करके

कल्पना को भौतिक एवं मानसिक समृद्धि के रचनात्मक कार्य के लिए प्रेरणा देता है। यह समझ लेना चाहिए कि मनुष्य अपने भाग्य एवं जीवन-इतिहास का निर्माण स्वयं करता है और वही उसके प्रति उत्तरदायी भी है। इसके विरोध में प्रतिक्रियावादियों का कहना है कि कल्पना एवं भौतिकता का परस्पर सफल समन्वय नहीं हो सकता, परिणामस्वरूप इस समन्वय में कोई सृजनकार्य हो ही नहीं सकता। पर यह आलोचना थोथी है क्योंकि सृजनात्मक प्रतिभा से सम्पन्न लेखक के लिए विशेषतया एक जीवन्त कहानीकार के लिए जीवन के प्रति भौतिकवादी दृष्टिकोण अपनाने से अच्छी और कोई स्वाभाविक दिशा नहीं सम्भव हो सकती। भौतिकता और आत्मा के परस्पर सम्बन्धों की व्याख्या वह इस प्रकार करता है कि मनुष्य का अस्तित्व ही चेतना को निश्चित करता है और उसके कहानी-लेखन का यही आधार होता है।

कहानी-लेखन का यही आधार प्रारम्भ से ही हिन्दी में प्रचलित रहा है। इस सम्बन्ध में विवाद की कोई गुंजायश ही नहीं रह जाती कि प्रेमचन्द के पूर्व हिन्दी कहानियाँ प्रारम्भ अवश्य हुई थीं, पर उनमें कहानी की कोई आत्मा न थी। वे मनोरंजक तत्वों को प्रश्रय देती हुई सुधारवादी एवं उपदेशात्मक भाषण मात्र ही थीं। प्रेमचन्द के आगमन के साथ ही प्रगतिशील कहानी-लेखन की धारा का सूत्रपात होता है, जिसमें *सोद्देश्यता, सामाजिक यथार्थ के प्रति आग्रह* और परिवर्तनशीलता से व्यावहारिक एवं वांछनीय तत्वों को अपनाकर जीवन की गतिशीलता को चित्रित करने का प्रयत्न रहता था। यहाँ तक कि प्रेमचन्द की *मनोवैज्ञानिक कहानियाँ 'कफन', 'मनोवृत्ति', 'बड़े भाई साहब',*

'नशा' और 'पूस की रात' आदि भी सोद्देश्यता से वंचित नहीं हैं और मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद के साथ समाजवादी यथार्थवाद को साथ लेकर ही आगे बढ़ती हैं। प्रेमचन्द की यह धारा इनके बाद भी यशपाल, रांगेय राघव आदि अनेक कहानीकारों के माध्यम से विकसित होती रही, पर प्रेमचन्द की मृत्यु के साथ ही एकदम से प्रतिक्रियावादी कहानीकारों का एक समूह सामने आता दृष्टिगोचर होता है, जिनका जीवन के प्रति कोई अपना दर्शन न था और न कोई स्पष्ट दृष्टिकोण। इन विभ्रान्त कहानीकारों ने वर्ग-वैषम्य, आर्थिक शोषण, सामाजिक असमानता एवं दासता के अत्याचार से समस्त भारतीय जीवन की बहुविधिय समस्याओं का समाधान दार्जिलिंग, शिमला, नैनीताल, मसूरी और ऊटी आदि पहाड़ी स्थानों की मनोरम वादियों में नारी के गोद में खोजने की कोशिश की, जिसके फलस्वरूप उन्हें हर व्यक्ति अस्वस्थ एवं सेक्स की भावना से ग्रस्त दिखाई पड़ने लगा। जो कहानियाँ इनके माध्यम से सामने आई, उनमें जीवन संघर्ष अथवा मानवीय समस्याओं का चित्रण न कर खण्डित मानव और कुण्ठाग्रस्त, विकृत एवं नैराश्यपूर्ण परिस्थितियों का चित्रण कर जोरदार दलीलों के माध्यम से यह बताने की कोशिश की कि यही जीवन है और यही समस्याएँ हैं, जिन्हें हमें हल करना है। नई कहानी ने प्रेमचन्द की सोद्देश्यता एवं सामाजिक सन्दर्भों में ही व्यक्ति को देखने और उसके परिवेश को समझने की परम्परा को तो विकसित बनाया, पर अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी तथा जैनेन्द्रकुमार की मनास्था, नैराश्य कुण्ठा, पलायन, पराजय की घुटन एवं अस्वस्थ मनोवृत्तियों तथा सेक्स से बीमार व्यक्ति के बिखराव की परम्परा के प्रति विद्रोह किया। इसे थोड़ी और स्पष्टता से समझ लेना चाहिए।

× × ×

नई कहानियों को अस्तित्व में आए लगभग चौदह वर्ष हो रहे हैं। उसे कई बेरहमी से पीटा गया है। उसकी बड़ी खींचतान हुई है और पुर्जों को माड़ने बिठा दी गई है। जिस पर बिचारी 'नई' कहानी की गाड़ी तो रुक गई और चलने लगा अनर्थक वाद विवाद। कि 'नई' कहानी पुरानी कहानी से कहाँ तक अलग है। इसे हम पीढ़ियों का संघर्ष भी कहते है। वास्तव 'नई' कहानी अपने आप में कोई अजूबा नहीं है, जैसा कि उसे सिद्ध करने की चेष्टा की जाती रही है। 'नई' कहानी गतिहीन परिवेश में जन्मी, निरन्तर व्यापक आयामों के संस्पर्श में उभरी ([1]) कोई ऐसी साहित्यिक विधा भी नहीं है, जिसने एकदम से बॉम्ब-शेल की तरह १९५० में हिन्दी जगत को झकझोर दिया। कोई भी साहित्यिक विधा अपने आप से दायित्व मुक्त नहीं होती। वह किसी परम्परा से किसी-न-किसी रूप में निश्चित रूप से सम्बद्ध रहती है। चाहे वह परम्परा के प्रति विद्रोह हो या परम्परा का विकास हो। नई कहानी इन दोनों ही प्रवृत्तियों का समन्वित रूप है। वह परम्परा का विकास भी है। परम्परा के प्रति विद्रोह भी।

आज जितनी लम्बी कहानियाँ लिखी जाती हैं, उतनी ही लम्बे उपन्यास उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में लिखे जाते थे। हिन्दी उपन्यासों के प्रारम्भिक काल में *अधिकांश उपन्यास पच्चीस-तीस पृष्ठों के* उपलब्ध होते हैं। उन्हें हम उपन्यास न कहकर (आज के परिवर्तित सन्दर्भों में) कहानी मान लें, तो उनमें सायास-उत्पन्न की जाने वाली कौतूहलता रोचकता, तिलस्मी जासूसी एवं ऐयारी का वातावरण तथा चटपटे *मसाले को उस युग की सर्वथा नई उपलब्धि* मान सकते हैं। उस काल का युग बोध समाज सुधार के साथ मनोरंजन था। लेखकों को उस विधा को लोकप्रिय बना कर जन मानस तक पहुँचाना था। इसके लिए उन्होंने जो शैली अपनाई, आज हमें चाहे जितनी भोंडी लगे, उस

× × ×

१६३० से १६५० तक का दौर दूसरे ढंग का है। यहाँ आकर कहानी के अर्थ फिर बदल गए। इसके आसार १६३० के आसपास ही लक्षित होने लगे थे, पर पूर्ण गरिमा उन्हें १६३५ के पास ही प्राप्त हुई। इस युग में कहानी स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर बढ़ी और अधिक विकसित रूप में उपस्थित हुई। *पिछले युग की क्राइसिस ने इस युग में* नया मुखौटा पहन लिया था। फलस्वरूप इस युग की क्राइसिस अधिक जटिल एवं दुर्बोधता से परिपूर्ण होकर आई। जलियांवाला बाग का भयंकर हत्याकाण्ड लोगों की स्मृति में ताजा था ही कि द्वितीय महायुद्ध की भयंकर विभीषिका देखने को मिली। नृशंस हत्याएँ, बर्बर अत्याचार एवं रक्त की प्यासी आँखों ने व्यक्ति को पशुओं से भी बदतर बना दिया था। १६४२ के आन्दोलन ने भी कुछ ऐसी ही निराशा, घुटन एवं दर्दोगुबार के दायरे में उस दौर की नई पीढ़ी को अपने में बाँधा और नतीजे के तौर पर हम कह सकते हैं कि उस क्राइसिस ने व्यक्ति में पराजय, घुटन और कुण्ठा उत्पन्न की, जिससे वह विभ्रान्त हो दिशाहारा की भाँति भटकने लगा। इस युग में आकर कहानी की दो धाराएं हो गई। एक धारा के उन्नायक बने जैनेन्द्र, *अज्ञेय* और इलाचन्द्र जोशी और दूसरी धारा को आगे बढ़ाने का कार्य प्रमुख रूप से यशपाल, *चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, भगवतीचरण वर्मा, रांगेय राघव आदि ने* किया। कह सकते हैं पहली धारा व्यक्ति सीमित धारा थी और दूसरी सामाजिक। जैनेन्द्र अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी ने कहानी को सूक्ष्मतम अभिव्यक्ति तो दी, पर सामाजिक जवाबदेही निभाने में वे शुरू से ही कतराते रहे। उन्होंने जीवन-संघर्ष में जूझने के बजाय पलायनवाद की दिशा अपनानी अधिक श्रेयस्कर समझी और व्यक्ति को अन्तर्मुखी बनाकर उसके अन्तरमन में बैठ उसे जाने कहाँ-कहाँ की भूल-भुलैया में चक्कर खिलाते रहे। पहाड़ों की रंगीन वादियों की सैर कराते रहे और पाठकों को हल्की कामोत्तेजना का झटका देकर उसे 'आनन्द' रस की

उपलब्धि देते रहे। जाहिर तौर पर इन लेखकों का ध्यान समाज के ऊपर न था। व्यक्ति की सम्पूर्णता पर भी उनकी दृष्टि न थी। उन्होंने केवल अस्वस्थ दृष्टि ही नहीं अपनाई, विकृत दृश्य भी अपने पाठकों को दिए, और विषबुझे तीर की भांति गुमराह करने और स्वयं अपनी 'इन्टिग्रिटी के प्रति' पाठकों को शंकालु बनाने का सेहरा अपने सिर पर बाँधे दाहीदाना आनन्द लेते रहे। मजे की बात यह थी कि इन लेखकों का ध्यान अस्वस्थ एवं अवांछनीय मनोवृत्तियों पर इतना अधिक टिक गया कि अपनी वास्तविकता को विस्मृत कर उन्होंने अपने आपको डॉक्टर समझ लिया। फ्रायड, एडलर और युग ने इन तथाकथित डॉक्टरों को मुफ्त गद्दे दे दी थीं। अपने अध्ययन कक्ष को इन कहानीकारों ने ऑपरेशन थियेटर बना डाला और लिखने की मेज को ऑपरेशन टेबुल। वहाँ उन्होंने बड़े इत्मीनान से व्यक्ति की चीर-फाड़ करनी शुरू की और नश्तरों के जोर पर चीड़-चीड़ कर घोषित करते रहे कि आज का व्यक्ति मुर्दा बन चुका है और अगर नहीं बन चुका है, तो उसके कफन ओढ़ने में ज्यादा देर नहीं है। वह ऊपर से लेकर नीचे तक बीमार-ही-बीमार है। यहाँ यह बात ध्यान में रखनी होगी कि यह परिणाम वस्तुतः इस युग की ट्रेजिडी का था जिसने इन कथाकारों को पूर्णतया आक्रान्त एवं भ्रमित कर उनसे जिन्दगी को यथार्थ ढंग से देखने की दृष्टि छीन कर उन्हें अशक्त एवं नपुंसक बना दिया था और इसी को [illegible] वे प्राणियों को युग सत्य समझ बैठे। अतः इस धारा की मूल इमारत [illegible] अज्ञात आशंका भय-विभ्रम, एवं जिन्दगी को यथार्थ दृष्टि से न देख पाने की असमर्थता की नींव पर खड़ी की गई थी, जिसे लेखकों ने नूतन शिल्प प्रयोग, मनोविज्ञान, गुह्यतम अभिव्यक्ति एवं नए कथ्यों से सजाने की पूरी-पूरी कोशिश की थी, पर वह कोशिश [illegible] में समझदार पाठक के समक्ष ही खारिज हुई। पर इसके बावजूद होने का [illegible] लिपी के निश्चित रूप में नहीं थी। पिछले दौर [illegible] से सूक्ष्मता की ओर आने और नवीन कथ्यों को मनो-

वैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर प्रस्तुत करने का प्रेमचन्द ने 'कफन', 'बड़े भाई साहब', 'पूस की रात' आदि कहानियों में प्रयत्न किया था, पर उनकी दृष्टि भी स्वस्थ थी और हाथ भी स्वस्थ थे। इन लेखकों ने उस परम्परा को जिस रूप में आगे बढ़ाया, उसके मनोज ऊपर दिखाए जा चुके हैं। पर दरअसल यही उन्होंने जो कुछ भी लिखा उसकी चर्चा हुई और प्रेमचन्द तथा उनके समकालीन लेखकों के सम्मुख ही जैनेन्द्र, अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी आदि अपनी 'आइडेन्टिटी' बना चुके थे। उन्हें कोई आन्दोलन खड़ा करने की चेष्टा नहीं करनी पड़ी।

इसी व्यक्ति सीमितधारा के साथ प्रेमचन्द की स्वस्थ सामाजिक दृष्टि की धारा को नए रूप में ढालने का काम यशपाल ने किया और उन्होंने सामाजिक परिवेश की यथार्थता को समाजवादी साँचे में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। इनके साथ ही चन्द्रगुप्त विद्यालंकार एवं भगवती चरण वर्मा और आगे चलकर इस दौर के अन्तिम काल में रांगेय राघव ने भी इस सामाजिक धारा को नई अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न किया, पर इस धारा की भी अपनी सीमाएँ थीं। प्रेमचन्द ने जिस आदर्शवाद को यथार्थवाद के साथ मिलाने की कोशिश की थी और जो खुद उन्हें अपने 'गोदान' उपन्यास में और अन्तिम कहानियों में भारी लगी थी, उस प्रवृत्ति से जाने-अनजाने वे सभी लेखक अपने को पूर्णतया मुक्त नहीं कर पाए थे। वस्तुतः युगीन चेतना भी कुछ उसी साँचे में ढली हुई थी, जो टूट तो रही थी, पर पूरे तौर पर वह १९४७ तक टूट नहीं पाई थी। इसके परिणामस्वरूप इन सभी लेखकों में व्यापक सामाजिक परिवेश को अर्थ देने की प्रवृत्ति तो मिलती है, पर यथार्थ के साथ मिली-जुली वे आदर्शमूलक कहानियाँ ही अधिक लिखते रहे। इस धारा में प्रत्येक दूसरे तीसरे वाक्य में एक सूत्र निकाल कर प्रीचिंग करने (खुल्लमखुल्ला नहीं, अप्रत्यक्ष ढंग से ही सही!) की प्रवृत्ति बड़ी जोरों पर थी, जिससे कोई भी लेखक बच नहीं पाया। इस दौर में लिखी हुई सभी कहानियों से इसकी पुष्टि की जा सकती है।

बँधे-बँधाए चरित्रों, निश्चित लक्ष्य की ओर किसी-न-किसी प्रकार पहुँचने की प्रवृत्ति और परम्परागत शैली (जो प्रेमचन्द से विरासत के रूप में मिली थी) इस पीढ़ी की सभी कहानियों में अबाध गति से प्राप्त होती है। इन लेखकों की ईमानदारी, प्रगतिशीलता, युगसत्य को पहचानने की क्षमता एवं सामाजिक जवाबदेही में किसी भी प्रकार सन्देह नहीं किया जा सकता। प्रेमचन्द की परम्परा को उन्होंने निश्चित रूप से आगे बढ़ाया। यह निर्विवाद है। फिर भी कहानी को शास्त्रीय परम्परा से पूर्ण मुक्ति देने और नवीन अर्थ गरिमा से विभूषित करने का दायित्व इनमें से कोई भी लेखक नहीं निभा सका, यह भी सच है।

१९४७ में स्वतन्त्रता प्राप्ति और देश के विभाजन ने भाइसिस की शक्ल ही बदल दी। कहने को आजादी मिली पर हम गुलाम थे, गुलाम बने रहे। शासक कुछ लोग थे वे यहाँ से चले गए। उनकी जगह कुछ नए लोगों ने ली जो ढिंढोरा पीट-पीटकर ऐलान कर रहे थे कि हम आजाद हो गए। जनता हैरान थी। आश्चर्य से आँखें फाड़-फाड़ कर देख रही थी आजादी? कैसी आजादी? उसके क्या अर्थ होते हैं! वह कुछ समझ नहीं पाई। वह तो बस देख रही थी नंगी औरतों के शर्मनाक जुलूस। रक्त की प्यासी हत्यारी आँखों का खूँखारपन। वह देख रही थी, औरत की इज्जत क्या होती है। दूध नहाए बच्चों की मासूमियत को वह खून के लाल रंग में डूबो रही थी। बेवाबसी कला-इयाँ, खामोश निगाहों से जिन्दगी की निस्सारिता पर खून के आँसू रोने वाले नए लोग, रोटी और भूख में तड़प-तड़प कर जान देने वाले नंगे-भूखे लोग उसकी आँखों में उभर रहे थे। वह पागल हो रही थी,

घूम रही थी और आज़ाद सरकार मन्त्रियों के लिए नई मोटरें खरीद रही थी, नए दफ़्तर बनवा रही थी। सचिवालय की और अन्य नए कार्यालयों की इमारतें बन रही थीं। स्टेशन की पुरानी इमारतों को तोड़कर नया बनाया जा रहा था। आज़ाद सरकार जी-जान से भारतीय इमारतों को आधुनिकता का 'टच' देने में जुटी हुई थी और लोग मर रहे थे, टूट रहे थे, तड़प रहे थे। बेसहारा, बेबस लोग! ऐसे में दिलासा देने के लिए जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय की कहानियाँ आ रही थीं जो ध्वनित से कर रही थीं, तुम रोओ मत। तुम्हारी समस्या वह नहीं है जिस पर तुम रो रहे हो। तुम्हारी वास्तविक समस्या कुछ और है। वे उसे अपने ऑपरेशन थियेटर में ले गए। उसकी चीर-फाड़ की और आख़िर नतीजा निकला वह सेक्स से बीमार था। ये डॉक्टर 'सामाजिक कार्यकर्ता' थे (डॉक्टर को सामाजिक होना भी पड़ता है!)। और उन्होंने उन बीमारों को सुन्दर लड़कियों के साथ पहाड़ों पर भेज दिया। कमरों के एकान्त में भेज दिया। झील के किनारे उनके लिए हरम बनवा दिए और लीजिए क्राइसिस हल हो गई, पर तभी धरमरा कर बड़ी मेहनत से तैयार की हुई इमारत टूट पड़ी। 'डॉक्टर' कथाकार भौचक्के से खड़े रह गए। उनकी कुछ समझ में नहीं आया, बाद में किसी ने घोषित कर दिया, वे चुक गए।

इस क्राइसिस में जो नई पीढ़ी जन्मी, वह भ्रान्तियों को स्वीकारने के लिए प्रस्तुत नहीं हुई। उसने विभ्रान्त करने वाली प्रवृत्तियों के आगे माथा नहीं टेका। यह पीढ़ी उस क्राइसिस को पूरी तौर पर जी रही थी उसकी यथार्थता को अपनी आँखों से देख रही थी। उसे झुठलाकर अपने को दिग्भ्रान्त करने और अनास्था, कुंठा, पलायन का शिकार बन कर सामाजिक दायित्व को अर्थहीन सिद्ध करने की चेष्टा में अपनी आत्मा का हनन कर आत्म-प्रवंचना का शिकार बनने की उसकी इच्छा उजागर नहीं हुई और उसने मृत व्यक्ति-सीमित धारा के स्थान पर समष्टिगत धारा को नवीन अर्थ गरिमा और अभिव्यक्ति की

मर्यादा प्रदान की। चेतना के इस संक्रमण काल को नई पीढ़ी ने उसकी उचित सगति मे पहचाना और उसके यथार्थ को स्पष्ट किया, जो एक सर्वथा नई चीज थी। सामाजिक, आर्थिक और मानसिक धरातल पर एक साथ विभिन्न स्तरों पर पड़ने वाले दबाव के कारण पूरी संस्कृति और मर्यादा की परम्परा के आधार तथा नैतिक मानदण्ड परिवर्तित हो रहे थे, जिनमें अभिनव मूल्य और नई मर्यादाएँ उभर रही थी। नई पीढ़ी ने इस यथार्थ परक सामाजिक परिवेश मे व्यक्ति को देखने की एक नई दृष्टि बनाई और विकसित की, जहाँ विघटनकारी मूल्यों एव पलायनवादी प्रवृत्तियो के प्रति मोह नहीं था। इस सम्बन्ध मे पीछे विस्तार से चर्चा की जा चुकी है, यहाँ उसे दुहराना असंगत है।

वास्तव मे जब भी—युग करवट लेता है, तो परिवर्तनशीलता के लक्षण कई स्तरों पर परिलक्षित किए जा सकते हैं। इस परिवर्तनबोध का प्रभाव उस युग की नई पीढ़ी पर गहन रूप मे पड़ता है और सर्जनात्मकता को जीवन का लक्ष्य मानकर कुछ बौद्धिक एव प्रबुद्ध लोगो की नई पीढ़ी ही तैयार हो जाती है, जो परम्परा से अलग हटकर नए मूल्यों को आक्रोश, असन्तोष एवं घृणा की मोटी सतहो के नीचे से अपनी पूरी क्षमता से उभारने का प्रयत्न करती है। इस प्रक्रिया में, स्पष्ट है, पुराने अव्यावहारिक मूल्यो से उसका संघर्ष होता है। जिसे नकारने की कोशिश करते हुए विशृंखलित एव सड़ी-गली परम्पराओं की लाश को बड़े गर्व एव सन्तोष से होने वाले तथाकथित 'उदारमना एव मौलिक' लोग हेय दृष्टि से देखते हैं और नई पीढ़ी पर बचकाने ढंग से साहित्य मे गतिरोध उत्पन्न करने का लांछन लगाकर दायित्व से मुक्ति पा जाते हैं।

ऐसी स्थिति मे तनाव का जो वातावरण निर्मित हो जाता है, उसमें कोई तत्व न होने के बावजूद उसे बराबर बनाए रखने का प्रयत्न या जाता है। परिणामस्वरूप एक आन्दोलन का जन्म होता है, समे कुछ 'हफ़र्स' और अवसरवादी लोग बहती गंगा मे हाथ धोने के

लिहाज से साथ आ मिलते हैं। इसका नतीजा यह होता कि उस आन्दोलन मे एक काफी बढी भीड नजर आने लगती है और कुछ अध्यवसायी 'मौलिक', 'समझदार' लोगो को इस बात का सन्देह होने लगता है कि कही यह आन्दोलन भिडियाकरो का तो नही है और उन्हे भय होने लगता है कि कहीं यह आन्दोलन जोर न पकड ले, क्योकि इससे उन्हे अपनी सत्ता छिन जाने की आशका होने लगती है। उनके इस विश्वास का कारण यह होता है कि 'भिडियाकर नई पीढी' लिखती तो कूडा है अर्थात् न तो कहानियो मे 'पँगोडा वृक्ष' लगाए जाते हैं, न 'नीलम देश की राजकन्या' की खोज होती है और न 'पठार का धीरज' की भाँति चाँद और सूरज उगाए जाते है, पर हीनता की ग्रन्थि से जबर्दस्त ग्रसित होने के कारण वे आन्दोलन बडे उत्साह एव टैक्ट से चलाते हैं, ताकि क्षणिक ही सही, उन्हे आइडेण्टिटी तो मिल जाए। यह विचार मैं जानता हूँ, बेबुनियाद है और कोई मायने नही रखता और इस पर हँसने के सिवाय और क्या किया जा सकता।

इस सम्बन्ध मे पहली बात तो मैं यह कहना चाहता हूँ कि नई कहानी को मैं कोई आन्दोलन नहीं स्वीकार पाता। वह नई आस्था, विश्वास और यथार्थपरक सामाजिक परिवेश को पहचानने का सकल्प है। परिवर्तनशीलता की अकुलाहट और बेबसी है और परम्परागत रूढियो, मान्यताओ एव शास्त्रीय आधारो के प्रति विचारो और शिल्प के स्तर पर नवीन आयामो को अन्वेषित करने का विद्रोह है और अभिनव वैचारिक स्तर की स्वीकृति की प्यास है। यदि इसे 'आन्दोलन' नाम देने की आवश्यकता अनुभव की जाती है, तो फिर उस सम्बन्ध मे मुझे कुछ नही कहना है।

बहुत मोटे तौर पर ही सही, एक बात की ओर मैं अवश्य ही सकेत करना चाहूँगा कि आन्दोलनो की आवश्यकता आइडेंटिटी के लिए नहीं होती जो लोग ऐसा सोचते है, वे मूर्खता के स्वर्ग मे विश्राम करते हैं। होता दरअसल यह है कि प्रत्येक युग मे पुरानी आस्थाएँ टूटती है और नई

जन्मती हैं। हर युग विशेष की नई पीढ़ी जब यह देखती है कि दुराग्रहों, परम्पराओं एवं रूढ़िगत विश्वासों का बोझ उस पर इस सीमा तक लाद दिया जाता है कि उसका साँस लेना भी मुश्किल हो जाता है, तो वह विद्रोह करने पर मजबूर हो जाती है, क्योंकि जीने की आकांक्षा और अस्तित्व रक्षा की प्यास किस में नहीं होती! इसे साफगोई के ढंग पर कहूँ कि अपने विश्वासों की रक्षा एवं आस्थायुक्त मान्यताओं के स्पष्टीकरण के लिए ही आन्दोलन की आवश्यकता होती है। दूसरे शब्दों में वैचारिकता की प्यास बुझाने के लिये आन्दोलन रूपी जल की अनिवार्यता समझी जाती है, ताकि बातों को खुले ढंग से कहा और सुना जा सके। इस दृष्टि से देखें, तो किसी आन्दोलन का चलाया जाना बुरा नहीं मालूम होता। पर जब आन्दोलन के इस व्यापक उद्देश्य को भुलाकर बातों को व्यक्तिगत सम्बन्धों एवं वैयक्तिक स्तर पर अनुभव किये जाने वाली कटुताओं एवं सुखानुभूतियों तक सीमित कर दिया जाता है, तो आन्दोलन कुछ लोगों के अहं की तुष्टि के लिए प्रचारवादी प्रवृत्तियाँ एवं साहित्य की दृष्टि से विघटनकारी शक्तियों का निर्जीव खिलौना मात्र बन जाता है। दुर्भाग्य से पिछले कई कहानी आन्दोलनों की यही नियति रही है।

मैं समझता हूँ, पिछले पन्द्रह वर्ष हिन्दी कहानी में सर्वाधिक विवादग्रस्त रहे हैं। इन वर्षों में हिन्दी कहानी ने अनेक वैचारिक स्तर स्पष्ट किए और अनेक दिशाएँ ग्रहण कीं, जो किसी गतिरोध की नहीं बल्कि इस बात की सूचक हैं कि इस नई पीढ़ी में परिवर्तित मानदण्डों के अपना सही रास्ता पहचानने की कितनी अकुलाहट रही है और नए [illegible] मूल्यों को उचित मर्यादा में स्थापित करने तथा [illegible] [illegible] रही है। यहाँ मैं कुछ उन 'अग्रगामी' और 'प्रबुद्ध' [illegible] छोड़ देता हूँ, जिनका जिनके लिए देता है और जिन्हें [illegible] मौका कहीं मिलता कभी है। उनके इस कार्यक्रम [illegible] कहे उपन्यास, कुछ कहे कहानियाँ, कुछ कहे आलोचना और

बाकी समय फिल्मी जगत, क्रीड़ा जगत, बाल जगत, विज्ञान जगत, भूगोल शास्त्र और काम शास्त्र (मार्केट में जिसकी माँग है) लिखना शामिल रहता है। वस्तुतः उनके लिए जीने की यह एक अनिवार्य शर्त होती है क्योंकि साहित्य उनके लिए साधना अथवा व्यक्तित्व विकास का साधन न होकर धन कमाने का एक पेशा है। इनमें से बहुत 'सीनियर' 'अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त' सौ-दो सौ कहानियों के प्रणेताओं को तो स्मरण भी नहीं रहता कि साहित्य से उनका कोई सम्बन्ध भी है। वे कहानी को साहित्य से स्वतन्त्र एक व्यावसायिक विधा स्वीकार कर ही कभी-कभी सफरी तौर पर साहित्य से अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा कर विरत हो जाते हैं। उनकी जो नियति हुई है, हो रही है या होगी, उस सम्बन्ध में यहाँ कुछ भी कहना नितान्त अनावश्यक होगा।

प्रगति एवं परम्परा

O

हिन्दी का कहानी साहित्य यद्यपि बहुत काल का नहीं है, फिर भी इस अल्प समय मे ही उसने निश्चित रूप से प्रगति की है, और ससार के दूसरे देशो के कहानी साहित्य की तुलना में वह किसी भी प्रकार असहत्वपूर्ण नही है। प्रगति एव परम्परा के लिए हिन्दी कहानी साहित्य 'विशेषतया प्रेमचन्द का ही ऋणी है। कहानियाँ सोद्देश्य और सामाजिक जवाबदेही से पूर्ण होनी चाहिए, यह बात सबसे पहले प्रेमचन्द ने ही कहानियो के माध्यम से बताया था। यद्यपि उनकी आरम्भिक कहानियाँ कला की दृष्टि से विशेष महत्व नही रखती, फिर भी अत्यन्त शीघ्र ही उन्होने कहानी का वास्तविक पथ पहचान लिया था, और निरन्तर युगीन संचेतना को वहन करते हुए उसका विकास करते रहे। प्रेमचन्द की शायद ही कोई ऐसी कहानी मिले, जो सोद्देश्य न हो। यह इस बात का स्पष्ट सकेत है कि प्रेमचन्द कितने जागरूक कलाकार थे। प्रेमचन्द यदि साहित्य के क्षेत्र मे न आए होते, तो कदाचित् वे एक बहुत बडे राजनीतिक और सामाजिक नेता बन गये होते। वे निष्क्रय और प्राणहीन जीवन व्यतीत कर ही नही सकते थे। देश और समाज

की समकालीन परिस्थिति से ही वे परिचित नही थे। वरन् उनकी अन्तर्दृष्टि ने आने वाले युग का भविष्य भी पहचाना था। उनकी यह विशेषता उनके कथा साहित्य मे बड़ी सफलता के साथ अभिव्यक्त हुई है।

प्रेमचन्द की प्रारम्भिक कहानियाँ लम्बी और वर्णनात्मक है। उन मे कला का वह सौष्ठव नही परिलक्षित होता, जो उनकी बाद की कहानियो मे लक्षित होता है। इस काल मे प्रेमचन्द की भावधारा पूर्णतया आदर्शवादी थी। वे साहित्य मे महती उद्देश्य लेकर आए थे। उन्होने जीवन का सर्वाधिक विकृत दयनीय एव पीडायुक्त स्वरूप निकट से देखा ही नही, उसे भोगा भी था। अत वे युग और जीवन को ऊँचे आदर्शों का महान् सदेश साहित्य के माध्यम से देना चाहते थे। उनके सम्मुख अनेक सपने तैर रहे थे, जिन्हे वे पूरा होते देखना चाहते थे, जिससे जिन्दगी सब की सवर जाए। युग की विषमताएँ टूट जाएँ और प्रगतिशीलता की स्थापना के साथ ही समाजवादी समाज की रचना सम्भव हो सके। उनकी आरम्भ की कहानियाँ भी इसी तरह के सपने का ही रूप ले सकी हैं। इनमे उनकी तीव्र आदर्शवादी भावना के साथ कल्पनाशीलता का प्रचुर मात्रा मे उपयोग हुआ है। उनमें उपदेशात्मक प्रवृत्ति का आधिक्य भी इसी काल की कहानियो मे अधिक दृष्टिगोचर होता है।

प्रेमचन्द की इन कहानियो मे, ऊपर कहा जा चुका है, शिल्प निर्वाह की अकुशलता प्राप्त होती है। लम्बे-लम्बे कथानक तो प्राप्त होते ही हैं, उनके साथ अनेक गौण कथाएँ भी समानान्तर रूप से चलती हैं, जिनका सामजस्य मुख्य कथा के साथ जोड पाने मे प्रेमचन्द विशेष सफल नही रहे हैं। इन कहानियो मे जीवन के अनेक पक्ष एक साथ उठाए गए हैं, जिनमे तुलनात्मक दृष्टि के साथ प्रत्येक वाक्य के उपरान्त सूत्र निकाल देने की प्रवृत्ति भी लक्षित होती है। ये कहानियाँ प्रमुख रूप से घटना-प्रधान कहानियाँ हैं। इनमे पात्रो का व्यक्तित्व उभरने नही पाता, और न उनके चरित्रो का स्वतन्त्र एव स्वाभाविक विकास ही हो पाता। वे निर्जीव कठपुतलियाँ प्रतीत होते हैं, जिनकी डोरें साफ लेखक के हाथों

नजर आती है, जो यांत्रिक रूप से जब चाहे तब उन्हें अपनी इच्छानुसार इधर-उधर घुमा देता है। इन पात्रों को घटनाओं की तुलना में अधिक महत्व मिल भी नहीं पाया है। इन पात्रों को देख कर यह तो आभास होता है कि प्रेमचन्द ने उनका चयन जीवन के यथार्थ से किया था, पर अपने सुनिश्चित पथ का निर्माण न कर सकने के कारण उनकी आदर्शवादिता, उपदेशात्मक वृत्ति एवं कल्पनाशीलता उन पात्रों पर आरोपित-सी प्रतीत होती है। पर इन सारी बातों के बावजूद इन आरम्भकालीन कहानियों का सम्बन्ध कहीं भी समाज से कटने नहीं पाया है, और न उनकी सोद्देश्यता में ही कहीं कमी आ पाई है।

प्रेमचन्द की मध्यकालीन कहानियाँ पहले की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ एवं कला की दृष्टि से अधिक सफल प्राप्त होती हैं। इस काल की कहानियों में बनावट की बू नहीं मिलती, न उनमें गढ़नशीलता ही प्राप्त होती है। इस काल की कहानियों में प्रेमचन्द की आदर्शवादिता अधिक सयमित रूप से सामने आती है। उनकी उपदेशात्मक वृत्ति भी कला के अन्यतम साँचे में ढल कर आती है, और कल्पनाशीलता तो एक प्रकार से समाप्त हो ही जाती है। इस काल की कहानियों के कथानक भी उन्होंने लम्बे या इतिवृत्तात्मक नहीं रखे हैं। वे संक्षिप्त हैं, तथा कथानक एवं पात्रों की गति में पूर्ण सामंजस्य लक्षित होता है। इन चित्रणों में मनोवैज्ञानिकता का भी समावेश इसी काल से मिलने लगता है। पर प्रेमचन्द का मनोवैज्ञानिक चित्रण मनोविज्ञान के सिद्धान्तों की व्याख्या अथवा शास्त्रीय विश्लेषण के लिए नहीं होता। वे जीवन के मनोविज्ञान का ही चित्रण करना अपना प्रमुख लक्ष्य समझते थे। इसीलिए मनोविज्ञान आ जाने के बावजूद उनके कथानक बोझिल नहीं मिलते। उनका विकास बड़ी स्वाभाविक गति से होता है। इस काल की कहानियों के कथानकों की सर्वप्रमुख विशेषता यह दृष्टिगत होती है कि अब तक प्रेमचन्द की दृष्टि को बड़ा विस्तार मिल चुका था और जीवन के बहुविधि पक्षों को स्पर्श करने का प्रयत्न लक्षित होता है।

'प्रेरणा', 'दो कब्रें', 'डमोरसख', 'दारोगाजी', 'सती', 'सभ्यता का रहस्य', 'दो सखियाँ', 'महातीर्थ', 'मंत्र', 'दुर्गा का मन्दिर', 'बड़े घर की बेटी', 'बैंक का दिवाला', 'शंखनाद', 'शराब की दुकान' आदि अनेक कहानियाँ इसी तथ्य की ओर संकेत करती हैं। अब व्यापक परिवेश मे नूतन आयामो को स्पर्श कर नवीन मूल्यान्वेषण करने की प्रवृत्ति प्रगतिशील तत्वो एव यथार्थ के साथ समाविष्ट होकर प्रेमचन्द मे गहरे रूप से उभरने लगे थे। इन कहानियो में सबसे बड़ी बात तो यह लक्षित होती है कि पहली बार कथानक के साथ प्रेमचन्द ने पात्रो को भी विशेष महत्व देना प्रारम्भ किया। इन पात्रो का चयन जीवन के यथार्थ से तो हुआ ही, साथ ही उनका चारित्रिक विकास भी यांत्रिक गति से न होकर स्वाभाविक एव यथार्थ ढग से होता है। इन पात्रो के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की ओर भी प्रेमचन्द ने ध्यान देना इसी काल से प्रारम्भ किया। इसीलिए ये पात्र बेजान मुर्दे न प्रतीत होकर हमारे बीच के जीते-जागते इन्सान नज़र आते हैं। पर यह समझना भूल होगी कि प्रत्येक दृष्टि से ये कहानियाँ सफल ही रही हैं। प्रेमचन्द ने अपने जीवन की सर्वश्रेष्ठ एव निर्दोष कलापूर्ण कहानियाँ अन्तिम काल मे ही लिखी, जिनकी एक परम्परा ही आगे चल निकली। इसी परम्परा के सूत्र आज की कहानी मे स्पष्ट रूप से प्राप्त होते हैं।

प्रेमचन्द की विकासकालीन कहानियाँ उनके पिछले दोनो चरण की कहानियो से अलग हैं। इस काल तक आते-आते आदर्शवाद के प्रति उनकी दृढ़ आस्था टूट चुकी थी, जिसकी चरम परिणति उनके 'गोदान' उपन्यास और 'कफ़न' तथा 'पूस की रात' आदि कहानियो मे प्राप्त होती हैं। अब उन्होने यथार्थ को तोड़ने-मरोड़ने अथवा उस पर आदर्शवाद के झीने आवरण को भी आरोपित करने की आवश्यकता नही समझी। *सामाजिक असमानता, वर्ग वैषम्य, आर्थिक शोषण आदि* वे बूर्जुआ मनोवृत्ति एव पूँजीवाद विचारधारा के परिणामस्वरूप उत्पन्न मानते थे, और इसीलिए उन्होने स्वीकार अन्ततोगत्वा कर ही लिया था कि पूँजीवादी

और बूर्जुआ मनोवृत्ति तथा आदर्शवाद में कभी समानता सिद्ध हो ही नहीं सकती। इन सामाजिक विकृतियों को एकदम से काट फेंकने के लिए ही सारे प्रगतिशील एवं जागरूक चेतना सम्पन्न लोगों को कटिबद्ध होना पड़ेगा। राजनीतिक विचारधारा भी इस समय एक नवीन दिशा ग्रहण करती दिखाई पड़ती है। देश में एक सक्रान्ति की स्थिति उत्पन्न हो गई थी और परिवर्तन की दूसरी स्थितियाँ उभरने लगी थीं। यह एक नई क्राइसिस थी। और जो साहित्य जीवन्त होता है, और जिसमे जागरूक लेखक सामाजिक जवाबदेही से भरे होते हैं, वह हमेशा नई क्राइसिस से करवट लेता है। कोई भी क्राइसिस ऐसे साहित्य को अछूता नहीं रख सकता। इस क्राइसिस ने प्रेमचन्द को भी सर्वथा नई दृष्टि दी और उनके पिछले सारे विश्वासो को तोड़कर रख दिया।

इस काल की कहानियो में प्रेमचन्द ने शिल्प सम्बन्धी नवीन प्रयोग किए। इनमे स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर जाने की प्रवृत्ति लक्षित होती है। कथानक की सूक्ष्मता और उनका मनोवैज्ञानिक प्रस्तुतीकरण इस काल की कहानियो की प्रमुख विशेषताएँ है। मुख्य कथा के साथ अवान्तरकथाओ को रखने की प्रवृत्ति उनकी मध्यकालीन कहानियों मे समाप्त होनी प्रारम्भ हो गई थीं, पर इस काल मे वे लगभग एकदम ही समाप्त हो गई थी। अब मन:स्थितियों, पात्रो के अन्तर्द्वन्द्वो एवं भावदशा के चित्रण पर उन्होने अधिक बल देना प्रारम्भ किया और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म रेशों को लेकर कहानियो के ताने-बाने का संगुफन किया, जिससे इनमें अधिक सन्निष्टता साथ ही थोड़ी जटिलता भी आई। इन कहानियों के कथानक मे औत्सुक्य, क्लाइमैक्स एवं कौतूहलता पर उतना ध्यान नहीं दिया गया, जितना कथानक की स्वाभाविक एवं यथार्थ गति पर। इन कहानियो में सत्य, शिव और सुन्दर तीनों ही भावनाओं का बड़ा ही कुशल एवं कलात्मक समन्वय प्राप्त होता है। इन कहानियों में प्रेमचन्द ने पात्रो की वैयक्तिक प्रवृत्तियों को भी उभारने का प्रयत्न किया, उन के मानस का विश्लेषण भी प्रस्तुत किया और उनकी मनोवृत्तियों को

नोवैज्ञानिक व्याख्या भी की। पर उनकी सबसे बड़ी विशेषता इस रूप मे निहित है कि उन्होने कभी इन पात्रो को आत्मपरक नही बनने दिया, और न व्यक्तिवादी कहानियो की रचना के प्रति ही उत्सुकता दिखाई। यह एक कठिन शिल्प निर्वाह का कार्य था, जिसे निभाने मे प्रेमचन्द को अपूर्व सफलता प्राप्त हुई है।

प्रेमचन्द की इस काल की कहानियो मे 'नशा', 'कफ़न', बड़े भाई साहब', 'मनोवृत्तियाँ' तथा 'पूस की रात' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये कहानियाँ एक ऐसी परम्परा का निर्माण करती हैं, जो आज की कहानी मे सरलता से खोजी जा सकती हैं। स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर जाने की प्रवृत्ति, कथ्य एव कथन की नवीनता, नूतन शिल्प, सामाजिक जवाबदेही, प्रगतिशील तत्वों का समाहार एव जागरुकता आज की कहानियो मे प्रेमचन्द की स्थापित इसी परम्परा की उपलब्धि है।

१९२८ से हिन्दी कहानी साहित्य मे जैनेन्द्र कुमार का आगमन एक विशेष महत्व रखता है। जैनेन्द्र जी कोई मौलिक परम्परा लेकर आए थे, यह समझना भूल होगी। उन्होने प्रेमचन्द की परम्परा को ही नया मोड़ देकर आत्मपरक बना दिया। पर उनके इस पलायनवाद से वह प्रगतिशील सामाजिक परम्परा मृत नही हुई, उसे यशपाल आदि दूसरे लेखको ने आगे बढ़ाया। इसकी चर्चा दूसरे स्थान पर की जायगी। जैनेन्द्र जी का आगमन विशेष महत्व इसलिए रखता है कि उन्होंने कहानी मे सूक्ष्मता की प्रवृत्ति को चरम सीमा पर पहुँचा दिया। इसे हालाँकि शुरु प्रेमचन्द ने ही किया था।

जैनेन्द्र कुमार की रुचि प्रारम्भ से ही शिल्प-प्रयोग की ओर रही है। नए-नए शिल्प में कहानियाँ लिखने का फ़ैशन हिन्दी में पहली बार उन्होंने ही प्रारम्भ किया। प्रारम्भ से ही मूलतः जैनेन्द्र कुमार की प्रवृत्ति दार्शनिक विवेचन एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की ओर रही है जिसे कभी उन्होंने गाँधीवादी दर्शन का आवरण पहनाया है, और कभी भारतीय अध्यात्मवाद का। पर स्पष्ट बात यह है कि जैनेन्द्र की जीवन के प्रति सदैव ही भ्रमित रहे हैं। जीवन की यथार्थता से उनका कोई ताल्लुक कभी नहीं रहा, और उसकी सच्चाई वे कभी समझ नहीं पाए। विभ्रान्त दृष्टिकोण और कन्फ्यूज्ड आयडियोलॉजी के कारण उनकी कहानियाँ केवल शिल्प की दृष्टि से ही महत्व रखती हैं, अपनी सामाजिकता अथवा सोद्देश्यता के कारण नहीं, जो उनमें है ही नहीं। उनकी कहानियों में रहस्यमयी भावुकता मिलती है, जो अधिकांश स्थलों पर छिछली मनोवृत्ति के साथ उभरी है। अपनी कहानियों में उन्होंने प्रायः ऐसी बातें कहने का प्रयत्न किया है, जो व्यक्तिवादी सत्य के अधिक निकट उतरती हैं। जीवन संघर्ष, यथार्थ एवं कटुता से पलायन कर आत्मपरक दृष्टिकोण के प्रकाशन के लिए ही उनकी अधिकांश कहानियाँ लिखी गई हैं। उनकी कहानियों का मुख्य विषय काम, फ्रस्ट्रेशन, कुंठा, घुटन और पीड़न है, जो अन्त में घोर निराशावादी स्वर में समाप्त होती हैं।

नैतिकता को तोड़-मरोड़ कर जैनेन्द्र जी ने विचित्र अर्थाभिव्यक्ति देने का प्रयास किया है। कहा जा सकता है, कि परम्परागत नैतिकता के स्थान पर उन्होंने व्यक्तिगत नैतिकता की ही स्थापना की है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आज की कहानी में भी यही दृष्टव्य होता है, और आज के अधिकांश नए कहानीकारों ने नैतिकता के प्रचलित अर्थों को अस्वीकारा है, और रूढ़ियों तथा विकृतियों का निराकरण कर उसे परिष्कृत करने का प्रयत्न किया है। यह उनका व्यक्तिगत प्रयत्न ही है, पर उसमें आत्मपरकता नहीं है। उसका विकास सामाजिक सन्दर्भों

मे ही होता है, और सामाजिक दायित्व के निर्वाह से उसमें कही विमुक्तता नही परिलक्षित होता। पिछले दौर की आत्मपरकता की तुलना मे आज की कहानी की यह प्रमुख नवीनता है, और विकास की महत्वपूर्ण कड़ी है। इसके विपरीत आत्मपरक नैतिकता को जैनेन्द्र जी ने कुंठा, वर्जना और सस्ती कामुकता से अलकृत किया, और पूरे परिवेश को अस्वस्थ दृष्टि से प्रस्तुत करते हुए मानवीय चेतना के विकृत पक्ष को ही लिया, शेष को छोड़ दिया। जैनेन्द्र जी ने अपनी विचारधारा को स्पष्ट करने के लिए जो मोटे-मोटे ग्रन्थ लिखे हैं उनमे व्यक्त विचारों और उनके साहित्य मे अभिव्यक्त विचारो मे घोर अन्तर्विरोध है। जैनेन्द्र जी के उपन्यासो और कहानियो को पढ़कर जो बात सबसे पहले स्पष्ट होती है, वह यह कि वे समझते हैं यदि हममे अनास्था, निराशा एव घुटन के साथ काम विकृतियाँ हैं, तो उनका चित्रण करना ही यथार्थता है। यह ठीक है। पर जीवन का एक और पक्ष होता है। लेखक की एक सामाजिक जवाबदेही होती है, जिसका निर्वाह ही एकमात्र दायित्व होता है। विकृतियाँ हर युग और हर समाज मे रही हैं। उनका प्रकृत चित्रण सामाजिक जवाबदेही का महत्व समझने वाला प्रगतिशील लेखक कभी नही करता। उस बुराई को दूर करने के लिए ही वह उन परवशों को अपनी कहानियो का विषय बनाता है, और जैनेन्द्र कुमार की एक भी कहानी इस सत्य को स्पर्श नहीं करती यह निर्विवाद है। इधर प्रकाशित 'विज्ञान' और 'अ-विज्ञान' कहानियाँ ली जा सकती है, जो स्पष्ट करती हैं कि जैनेन्द्र कुमार इस बदली क्राइसिस और संघर्षशील युग के जटिल यथार्थ को ठीक से न समझ पाने के कारण कहाँ-कहाँ पलायन कर भटक रहे हैं और आधुनिक सचेतना को किस रूप मे ग्रहण कर रहे हैं।

जैनेन्द्रकुमार की ही भांति घोर आत्मपरकता लेकर कहानियों के क्षेत्र में अज्ञेय भी आए। प्रतीकात्मक और वातावरण-प्रधान शैली को जन्म देकर मनोविश्लेषणात्मक गहराई से हिन्दी कहानी को अधिक कोमल और मानव-संवेदना पूर्ण बनाने में अज्ञेय का उल्लेखनीय योगदान रहा है। उनमें प्रतिभा और सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि की भी कमी नहीं रही है, पर उन्होंने सत्य को छोड़ कर शिव और सुन्दर पर ही अपना ध्यान प्रमुख रूप से केन्द्रित किया। यहाँ यह महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अज्ञेय शुरू में प्रेमचन्द से प्रभावित थे और प्रगतिशील आन्दोलन के साथ थे। १९४२ और १९४७ में अज्ञेय ने प्रगतिशील लेखक संघ के अधिवेशनों में भाग लिया था। विभाजन की त्रासदी और विभाजन पूर्व की स्वतन्त्रता प्राप्ति आन्दोलन और उससे सम्बन्धित ब्रिटिश साम्राज्यवादी शक्तियों के कठोर एवं निर्मम दमन चक्र ने अज्ञेय के संवेदनशील और भावुक मन को पूरी तरह झकझोर दिया था, और चेतना की उसी संतप्तावस्था में उन्होंने अपनी सर्वश्रेष्ठ कहानियां, 'शरणदाता', 'रोज़', 'मेजरचौधरी' तथा बदला' लिखीं। ये सभी कहानियां सामाजिक दायित्व का निर्वाह ही कुशलतापूर्वक नहीं करतीं, वरन् उनमें पूर्ण प्रगतिशीलता भी लक्षित होती है। प्रमुख बात तो यह है कि विभाजन के पश्चात् शरणार्थियों पर नए और पुराने सभी कथाकारों द्वारा लिखी गई कहानियों में अज्ञेय की ही कहानियां सर्वश्रेष्ठ उतरती हैं।

पर अज्ञेय का पराजित यह स्वाभाविक पथ नहीं था, और प्रगतिशील आलोचकों द्वारा उपेक्षित होने के साथ ही वे इस पथ से हट गए और सुन्दर की खोज में भटकने लगे, जिसका परिणाम यह हुआ कि वे अधिकाधिक आत्मपरक होने लगे और घोर व्यक्तिसीमित विचारधारा उनकी कहानियों में चित्रित होने लगी। चूंकि अज्ञेय सफल कवि भी थे, और नई कविता के आन्दोलन के सूत्रधार भी, इसलिए अपनी कहानियों में नई कविता की भांति अनास्था, घुटन, पराजय एवं कुंठा को लाने में उन्हें जैनेन्द्र से भी अधिक सफलता मिली। ऊपर जिन कहानियों का

उल्लेख किया गया है, उन्हें अपवाद स्वरूप छोड़ कर अज्ञेय की सभी कहानियाँ रोमानी धरातल पर लिखी गई हैं, और उनमे उन्ही मान्यताओं एवं नैतिकता की स्थापनाएं हुई है, जिनकी शुरूआत जैनेन्द्र कुमार ने की थी, और अज्ञेय ने जिसकी चरम परिणति 'होली बोन की बतखें' और 'मेजर चौधरी की वापसी' मे हुई । अन्तिम कहानी 'लेडी चैटर्लीज लवर' की आधारभूत थीम को लेकर लिखी गई है, जिस पर अज्ञेय का उपन्यास 'नदी के द्वीप' भी आधारित है । अज्ञेय की कहानियाँ अश्लीलता, अस्वस्थ एवं भ्रमित दृष्टिकोण, जीवन के प्रति अस्पष्टता एवं पलायनवाद मे उनके उपन्यासो से किसी भी प्रकार कम नही है ।

अज्ञेय का शिल्प महत्वपूर्ण स्थान रखता है, यह न स्वीकारना बेमानी होगा । अज्ञेय ने शिल्प की दृष्टि से अनेक नए नए प्रयोग किए, और हिन्दी कहानियो के शिल्प पक्ष को अवश्य ही श्रेष्ठ स्तर तक ले गए, यह असंदिग्ध है, पर इसके साथ ही यह भी सच है कि उनके शिल्प का प्रभाव आज की कहानी पर तो पड़ना दरकिनार रहा, स्वयं उन्ही के दौर मे आने वाले लेखको पर नहीं पड़ा। इसका कारण यही था कि नई कविता की अमूर्तता लादी गई सांकेतिकता, अनावश्यक रूप से आरोपित दुर्बोध एवं जटिल प्रतीक योजना से उन्होने अपने अभिनव शिल्प प्रयोग को इतना निरर्थक सिद्ध कर दिया था कि उस शिल्प परम्परा का आगे चलना कोई मायने ही नही रखता था । अज्ञेय ने यही धपड़ेम भाषा के साथ भी किए । भाषा को अयथार्थ एवं कृत्रिम बनाने का भी अज्ञेय ने ही 'महत्वपूर्ण' प्रयास किया है ।

× ×

यशपाल का आगमन हिन्दी कहानियो के क्षेत्र में एक विशे
रखता है । वे प्रगतिशील कहानीकार थे, और समाजवादी रचनाशि
के प्रति आस्थावान् थे । उन्होने एक स्थान पर लिखा है कि क
का उद्देश्य केवल कहानी है; कहानी-लेखक कहानी लिखना या सु
चाहता है इसलिए कहानी लिखता है । कहानी लिखने या सुनने
पढने से जो सन्तोष होता है, वही कहानी का आद्योपान्त उद्देश्य
लक्ष्य है, अन्य कुछ नही ।'' ···कहानी से रस मिलने का कारण पा
का कहानी के पात्र के जीवन और व्यवहार के प्रति कौतूहल
उत्सुकता है । कहानीकार की कहानी सुनाने की इच्छा का स्रोत पाठक
या श्रोताओ से सामाजिक सम्बन्ध के आवश्यकतानुकूल काल्पनिक चित्रो
द्वारा अनुभूति और विचारो के आदान-प्रदान का अवसर पाना ही है।
इस सामाजिक चित्र से कथाकार और श्रोता दोनो की ही अनुभूतियम
आत्मीयता का होना आवश्यक है । इस प्रकार कहानी मूलतः एक
सामाजिक वस्तु हो जाती है और उसे केवल व्यक्तिगत सन्तोष का
साधन कहकर छोड़ देना कहानी के मूल तत्व से इन्कार कर देना होगा।
कहानी से पढने वाला प्रभाव ही उसका प्रयोजन और उद्देश्य है।'
यशपाल की कहानियो की परख इसी कसौटी पर की जानी चाहिए,
और कहना न होगा, उनकी कहानियाँ इस दृष्टि से पूर्णतया सफल सिद्ध
हुई है ।

सोद्देश्यता एव सामाजिक दायित्व का निर्वाह यशपाल की कहानियों
का मूल स्वर है । अधिकांश वे समस्यामूलक कहानियाँ हैं, और हमारे
सामने जीवन की विभिन्न समस्याओं को प्रस्तुत करती हैं । वर्ग वैषम्य,
आर्थिक शोषण, सामाजिक असमानता मूल्य विघटन एवं प्रतिक्रियावादी
[illegible]ियों के साथ पूँजीवादी बुर्जुआ मनोवृत्तियों के विकास से उत्पन्न
[illegible] परिस्थितियों को यशपाल ने बड़ी गहराई से समझा है और
[illegible] [illegible]रणों को खोज निकालने का प्रयत्न किया है । उनके इस
[illegible] सदा उन मूल्यों एव सत्यों का अन्वेषण ही रहा है, जो

समाजवादी दौर की स्थापना कर सकें और वर्तमान समाजविधान को परिवर्तित कर सकें। उनकी दृष्टि स्वच्छ एवं स्पष्ट तो रही ही है, साथ ही उन्होंने सदैव ही कलम को प्रगतिशील पथ पर ही गतिशील किया है। उनकी कहानियाँ आस्था एवं विश्वास के दृढ़ स्वरों से पूरित हैं और साथ ही जीवन के बदलते सन्दर्भों, परिवर्तित मानदण्डों एवं आधुनिक संचेतना को वहन करने में पूरी तरह से समर्थ हैं।

यशपाल ने विशेषतः समाजवादी यथार्थवाद (Socialist Realism) का चित्रण किया है, और आरोपित दुर्बोध एवं जटिल प्रतीक-विधान एवं अमूर्त बिम्ब योजना के स्थान पर सीधे-सादे शिल्प को अधिक अपनाया है और वस्तुपरक दृष्टिकोण से अपनी पूर्ण संवेदनशीलता के साथ जीवन के बहुविध पक्षों को कहानियों का विषय बनाया है। इन्हें पूर्ण यथार्थता एवं स्वाभाविकता के साथ स्वानुभूति के स्तर पर प्रस्तुत करने में यशपाल को पूरी सफलता प्राप्त हुई है। यशपाल के पात्र जीवन के यथार्थ से लिए गए हैं, और वे जीवन की विराटता एवं विविधता को व्यापक परिवेश में प्रस्तुत तो करते हैं। पर इसके साथ यह भी सत्य है कि उनके अधिकांश पात्र नियन्त्रित गति से बढ़ने और विकसित होते हैं। अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति एवं सत्य की अभिव्यक्ति, की दिशा में प्राय. यशपाल इन पात्रों को बेजान-सा कर कठपुतलियों की भाँति नचाते हुए अपने लक्ष्य तक पहुँचते हैं। इससे कहानियाँ प्रगतिशील तो लगती हैं, पर उनकी प्रभावशीलता बहुत हद तक न्यून हो जाती है। यह कलात्मक दौर्बल्य उनकी कई कहानियों में साफ लक्षित किया जा सकता है, पर सन्तोष यही है कि यशपाल आज के नए सामाजिक यथार्थ का उद्घाटन करने में प्रगतिशील पथ से कभी विमुख नहीं हुए।

× × ×

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार इस दौर के प्रमुख कहानीकारों में हैं। 'वापसी,' 'पहला नास्तिक' तथा 'तीन दिन' आदि उनके अनेक कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। चन्द्रगुप्त जी की कहानियों में सामाजिक दायित्व का निर्वाह एवं सोद्देश्यता निरन्तर मिलती है। आत्म परक धारा के साथ न चलकर उन्होंने प्रेमचन्द की सामाजिक धारा के साथ अपना सम्बन्ध बराबर बनाए रखा, और एक-से-एक अच्छी कहानियाँ लिखी। उनका दृष्टिकोण प्रगतिशील है, और जीवन के प्रगतिशील तत्वों को खोज कर उन्ही के बारीक-से-बारीक रेशों से उन्होंने अपनी कहानियाँ सगुफित की हैं। इसमे उन्हें इसलिए भी सफलता प्राप्त हुई है, क्योंकि उनकी यथार्थ की पकड़ बड़ी गहरी है, और उनकी दृष्टि बड़ी स्वस्थ एवं समर्थ रही है। अपने युग के जटिल यथार्थ को उन्होंने पूरी तरह से समझा है, और उसे बड़ी स्वाभाविकता के साथ प्रस्तुत किया है। आसपास के परिचित परिवेश को सामाजिक सन्दर्भों में विराट मानवीय चेतना के साथ प्रस्तुत करने में उन्हे यथेष्ट सफलता प्राप्त हुई है।

चन्द्रगुप्त जी कलावादी नही, कहानीकार हैं। उनकी कहानियों मे सामाजिक यथार्थ तो मिलता है, कलाबाजियाँ नही। ,उनकी कहानियों का शिल्प सीधा-सादा होते हुए भी नख-से-शिख से चुस्त और दुरुस्त है, और उनमे परम्परागत निखर पूरी तरह प्रकट हुआ है। शिल्प प्रयोग के चक्कर मे उन्होंने अपनी कहानियाँ जानबूझ कर नष्ट नहीं की हैं। उनकी कहानियाँ इसीलिए प्रभावशाली हैं, और मन की गहराइयों को छू जाने मे सफल होती हैं। उनका प्रभाव मन पर गहरा और स्थायी पड़ता है। प्रेमचन्द की परम्परा को व्यक्तिसीमित धारा के मुकाबले में जीवित रखने और विकसित करने मे चन्द्रगुप्तजी का उल्लेखनीय योगदान रहा है।

× × ×

बलवन्तसिंह उचित अर्थों में हिन्दी के पहले आंचलिक कथाकार है। पंजाब के निम्न-मध्यवर्ग के जीवन को लेकर वहाँ के लोक-जीवन, लोक्-गीतो, आचार व्यवहार एव संस्कृति को अपनी कहानियो में यथार्थ ढग से उभारने का प्रयास बलवन्तसिंह ने बडी सफलता से किया है। उनकी कहानियाँ स्थानीय परिवेश और करमट मे डूबी होने के बावजूद व्यापक आयामो को स्पर्श करती है, और सर्वजनीन बन जाती हैं। उनकी कहानियो के उचित मूल्यांकन अभी तक न हो सकने का एकमात्र प्रमुख कारण यह है कि वे गन्दी साहित्यिक राजनीति के शिकार बन गए हैं। उनके विरोधियो ने अत्यन्त सस्ते स्तर पर उतर कर उनके विरुद्ध विषैला एव घृणित प्रचार फैलाते हुए उन्हे उर्दू का कहानीकार घोषित करने की चेष्टा की है। जबकि सच्चाई यह है कि १६४७ मे विभाजन के पश्चात् भारत आने पर उन्होने हिन्दी के राष्ट्र-भाषा होने के कारण उसके महत्व को स्वीकार किया और उर्दू मे अत्यधिक सफलता प्राप्त करने के बाद भी हिन्दी मे लिखना प्रारम्भ किया। और तब से निरन्तर हिन्दी मे ही लिखते आ रहे हैं। हिन्दी मे अब तक उनकी सैकडो कहानिया प्रकाशित हो चुकी हैं और हिन्दी पाठको मे वे अपना एक महत्वपूर्ण स्थान बना चुके है।

बलवन्त सिंह को कहानी की पकड खूब है। उनकी कहानियाँ कलात्मक साचे मे ढली हुई अपूर्व शिल्प-निर्वाह के साथ प्रस्तुत होती है। इसके होते हुए भी उनमे सहजता एव सादगी के साथ अनगढता प्रतीत होती है। इस दृष्टि से उन्हे अपार सफलता प्राप्त हुई है। उन्होने, सत्य तो यह है, कभी कला-कला के लिए जैसे सिद्धान्त को स्वीकार कर अपनी कहानियाँ नही लिखी। वे पजाब मे अपने जीवन का काफी भाग बीता चुके है। वहाँ की मिट्टी-मिट्टी की सुवास उनके मन मे बसी हुई है। मुझे तो ऐसा लगता है, पजाब से हिन्दी मे आने वाले सभी लेखको मे पजाब की आत्मा का जितनी निकटता से अनुभव बलवत सिंह ने किया है, उतना किसी भी अन्य लेखक ने नही। और यही कारण है कि उनकी

कहानियों मे चित्रित पंजाब का जीवन आरोपित या कृत्रिम नहीं प्रतीत होता, और न ही उसमे कही अयथार्थता परिलक्षित होती है।

बलवन्त सिंह की उच्च कोटि की कहानियों में 'समझौता', 'दीमक', 'पंजाब का अलबेला', 'जग्गा', 'तीन बातें', 'ग्रन्थी', 'खुददारी', 'सम्हें', 'पहला पत्थर', 'नया मकान', 'अपरिचित', 'मैं जरूर रोऊँगी', 'प्रतिध्वनि', 'पेपरवेट', और हाल की प्रकाशित कहानी 'बाँध' है। इनकी आँचलिक कहानियो की सबसे बडी विशेषता यह है कि वह आंचलिकता कहानियों पर आरोपित नहीं है। वह कहानी के बीच से उभर कर आती है। इसीलिए उनमे स्वाभाविकता का गाढा रग सामने आता है, जिसके कारण इन कहानियो को पढ़ते समय ऐसा लगता है कि सारी बातें लेखक की अपनी भोगी हुई हैं, जिन्हें वह इतनी यथार्थता एव बर्जिवित तरीके से उपस्थित कर रहा है। बलवन्त सिंह प्रगतिशील कहानीकार हैं। उन्होने कभी जागरूक सामाजिक परम्परा से अपना सम्बन्ध विच्छिन्न नहीं किया और सदैव सोद्देश्य कहानी लिखते रहे। उनकी कहानियो के पात्र मानव जीवन के बहुरगी पक्षों को स्पर्श करते हुए अपूर्व जिजीविषा से भरपूर हैं। वे जीवन जीने के हिमायती हैं, जीवन से पलायन करने के नहीं। इसीलिए उनकी कहानियों में सामाजिक जवाबदेही पूरे तौर पर प्रतिध्वनित होती है। नवीन मूल्यों के प्रति आग्रह एव विश्वास उनकी इधर की कहानियो के मूल स्वर हैं। 'गलियाँ' कहानी मे बलवंत सिंह का नया वैचारिक स्तर स्पष्ट हुआ है और वह उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानी बन गई है।

× × ×

इस दौर में प्रगतिशील कहानीकारो मे अमृतराय का स्थान विशेष उल्लेखनीय है। 'भोर से पहले', 'कठघरे', 'कस्बे का एक दिन', 'इतिहास', 'लाल धरती', तथा 'जीवन के पहलू' आदि अमृतराय के अनेक कहानी संग्रह प्रकाशित हुए हैं, जिनकी अनेक कहानियाँ काफी लोकप्रिय भी हुई हैं। सोद्देश्य एवं सामाजिक, प्रगतिशील कहानियाँ लिखने मे अमृत को विशेष ख्याति मिली है। उनकी कहानियाँ जीवन के विभिन्न पहलु बड़ी सफलता से प्रस्तुत करती हैं। कला-कला के लिए न लिखी जाकर उनकी कहानियाँ जीवन के यथार्थ को चित्रित करने के लिए लिखी गई हैं। उनकी कहानियो मे समाजवादी यथार्थवाद (Socialist realism) बड़ी सफलता के साथ चित्रित हुआ है। आर्थिक शोषण, वर्ग वैषम्य, सामाजिक असमानता, नौकरशाही, अन्याय, निम्न-मध्यवर्ग की घुटन-आत्मपीड़न एवं कुंठा आदि उनकी कहानियों के मुख्य विषय हैं, जो मिलकर प्रभावशाली थीम तैयार करते है। प्रत्येक सामाजिक विकृति की अमृतराय ने अच्छी गत बनाई है, और अपने तीखे व्यंग्य एवं मर्मान्तिक वार से उनकी अच्छी खबर ली है।

अमृत की कहानियो मे जीवन की सच्ची तस्वीर प्राप्त होती है। उनमे कहीं कोई बनावट या तोड़-मरोड़ नही है और न प्रगतिशीलता को उन पर जबर्दस्ती आरोपित किया गया है। यही वे यशपाल से अलग हो जाते हैं। यशपाल की कहानियो से बिल्कुल भिन्न अमृत की कहानियो मे प्रगतिशीलता कहानी की आत्मा बनकर ही उभरती है, कहानी से अलग नही। उन्होने कभी प्रतिक्रियावादी तत्वो को प्रगतिशीलता का जामा पहना कर प्रस्तुत करने की भी चेष्टा नही की है। उन्होने जीवन के यथार्थ के अनेक टुकड़े ज्यो-के-त्यो प्रस्तुत कर दिए हैं। पर इसका अभिप्राय यह नहीं है कि इन कहानियो मे अमृत की फोटोग्राफी की कला मात्र ही सामने आई है और वे प्रकृतवादी कहानियाँ हैं। यह भ्रमपूर्ण दृष्टिकोण होगा। 'आह्वान', 'कीचड़', 'व्यथा का सरगम', 'खाद और फूल', 'फिर सुबह हुई', 'नंगा आदमी नंगा जस्म', 'दूरियाँ', 'हम

रखेल', 'मरूस्थल', 'तीन चित्र', 'गीली मिट्टी', 'चमार की औलाद', मशीन का खेल', 'स्टिल लाइफ', 'मंगलाचरण', तथा 'नई कहानियाँ' के अगस्त १९६४ मे प्रकाशित उनकी ताजा कहानी—ये सभी आज के जीवन के बहुविधिय पक्षों को एक विशाल कैंवेस मे इस यथार्थ ढंग से प्रस्तुत करती हैं कि वे जीवन की सत्य प्रतिकृति ही ज्ञात होती हैं। पर इन कहानियो के भीतर व्याप्त लेखक की आस्था, जागरूकता, विश्वास एवं सामाजिकता उन्हे प्रकृतवाद की सकुचित सीमाओं से ऊपर उठा देती है।

अमृत की कहानियाँ हर लिहाज से नयी हैं। उनमें नया जीवन बोध नयी सवेदना, नया रस, नए कथ्य एवं कथन तथा नवीन शिल्प एप्रोच आदि इस सीमा तक प्राप्त होती हैं कि आज की कहानी की चर्चा करते समय उन्हें दृष्टि से ओझल कर देना बिल्कुल असगत-सी बात होगी। आज जब हम 'नई' कहानी मे सामाजिकता, सोद्देश्यता एवं यथार्थता के साथ प्रगतिशीलता और आधुनिक सवेदना को वहन करने की सक्षमता की बातें करते हैं, तो अमृत की कहानियाँ सबसे पहले दिमाग में आती हैं। 'नई' कहानी का अपना झण्डा गाड़ने वाले (कुछ लोग 'नई' कहानी को अपनी पैतृक सम्पत्ति समझते हैं।) जिस तरह ग़ैर-जिम्मे-दाराना बातें करते हैं, और फतवे देते हैं, उनसे हट कर उन्हीं मसीहाओं द्वारा बताई गई आज की 'नई' कहानी की विशेषताओं की कसौटी पर जब हम अमृत की कहानियाँ कहते हैं, तो नतीजे बिल्कुल साफ और विवादरहित रूप से सामने आते हैं। उनकी कहानियाँ आज की किसी भी अच्छी एवं श्रेष्ट कही जाने वाली कहानी की विशेषताओं से पूरित है, और सच बात तो यह है कि यदि आज की कहानी के प्रतिक्रियावादी लेखकों की बात हम छोड़ दें, तो जागरूक, प्रगतिशील एवं सामाजिक जवाबदेही से युक्त लेखकों की सृजन प्रक्रिया पर अमृत की कहानियों का गहरा इम्पैक्ट पड़ा है, जिसे नकारा जाना अब सम्भव नहीं रहा है।

उपलब्धियाँ एवं स्पष्टीकरण

●

पीछे इस बात को स्पष्ट किया जा चुका है कि किस प्रकार १६५० के पश्चात् पूरी एक नई पीढ़ी सामने आई, जिसने हिन्दी कहानी को अर्थ की गरिमा एवं मर्यादा की सर्वथा नई अभिव्यक्ति दी। यहाँ दुबारा उसका उल्लेख करना अनावश्यक पुनरावृत्ति होगी। इस दशक को हम १६६० तक सीमित करके देखें, तो अनेक लेखक उल्लेखनीय स्थान बनाते दृष्टिगोचर होते हैं। इस दशक के बाद पूरी-की-पूरी एक नई पीढ़ी सामने आ जाती है, जिसका उल्लेख आगे किया गया है। वह इस पीढ़ी से कहाँ भिन्न है और उस भिन्नता का क्या अर्थ है, इसे वहीं यथा-स्थान स्पष्ट किया गया है। यह विभाजन केवल सुविधा के लिए किया गया है, इसका अर्थ नई कहानी का विभाजन करना नहीं है। यहाँ नामों का क्रम लेखन स्तर की दृष्टि से नहीं, लेखन समय की दृष्टि से रखा गया है, जिसमें लेखकों की भूमिकाओं का आश्रय लिया गया है।

× × ×

रसेल', 'मल्लपल', 'तीन चित्र', 'गीली मिट्टी', 'चमार की औलाद', 'मशीन का खेल', 'स्टिल लाइफ', 'मंगलाचरण', तथा 'नई कहानियाँ' के अगस्त १६६४ में प्रकाशित उनकी ताजा कहानी—ये सभी आज के जीवन के बहुविधि पक्षों को एक विशाल कैनवेस में इस यथार्थ ढंग से प्रस्तुत करती हैं कि वे जीवन की सत्य प्रतिकृति ही ज्ञात होती हैं। पर इन कहानियों के भीतर व्याप्त लेखक की आस्था, जागरूकता, विश्वास एवं समाजिकता उन्हें प्रकृतवाद की सकुचित सीमाओं से ऊपर उठा देती है।

अमृत की कहानियाँ हर लिहाज से नयी हैं। उनमें नया जीवन बोध नयी सवेदना, नया रस, नए कथ्य एवं कथन तथा नवीन शिल्प एप्रोच आदि इस सीमा तक प्राप्त होती हैं कि आज की कहानी की चर्चा करते समय उन्हें दृष्टि से ओझल कर देना बिल्कुल असगत-सी बात होगी। आज जब हम 'नई' कहानी मे सामाजिकता, सोद्देश्यता एवं यथार्थता के साथ प्रगतिशीलता और आधुनिक संवेदना को वहन करने की सक्षमता की बातें करते हैं, तो अमृत की कहानियाँ सबसे पहले दिमाग में आती हैं। 'नई' कहानी का अपना झण्डा गाड़ने वाले (कुछ लोग 'नई' कहानी को अपनी पैतृक सम्पत्ति समझते हैं।) जिस तरह गैर-जिम्मे-दाराना बातें करते हैं, और फतवे देते हैं, उनसे हट कर उन्ही मसीहाओं द्वारा बताई गई आज की 'नई' कहानी की विशेषताओं की कसौटी पर जब हम अमृत की कहानियाँ कहते हैं, तो नतीजे बिल्कुल साफ और विवादरहित रूप से सामने आते हैं। उनकी कहानियाँ आज की किसी भी अच्छी एवं श्रेष्ठ कही जाने वाली कहानी की विशेषताओं से पूरित है, और सच बात तो यह है कि यदि आज की कहानी के प्रतिक्रियावादी लेखकों की बात हम छोड़ दें, तो जागरूक, प्रगतिशील एवं सामाजिक जवाबदेही से युक्त लेखकों की सृजन प्रक्रिया पर अमृत की कहानियों का गहरा इम्पैक्ट पड़ा है, जिसे नकारा जाना अब सम्भव नहीं रहा है।

उपलब्धियाँ एवं स्पष्टीकरण

●

पीछे इस बात को स्पष्ट किया जा चुका है कि किस प्रकार १९५० के पश्चात् पूरी एक नई पीढ़ी सामने आई, जिसने हिन्दी कहानी को अर्थ की गरिमा एवं मर्यादा की सर्वथा नई अभिव्यक्ति दी। यहाँ दुबारा उसका उल्लेख करना अनावश्यक पुनरावृत्ति होगी। इस दशक को हम १९६० तक सीमित करके देखें, तो अनेक लेखक उल्लेखनीय स्थान बनाते दृष्टिगोचर होते हैं। इस दशक के बाद पूरी-की-पूरी एक नई पीढ़ी सामने आ जाती है, जिसका उल्लेख आगे किया गया है। वह इस पीढ़ी से कहाँ भिन्न है और उस भिन्नता का क्या अर्थ है, इसे वहीं यथा-स्थान स्पष्ट किया गया है। यह विभाजन केवल सुविधा के लिए किया गया है, इसका अर्थ नई कहानी का विभाजन करना नहीं है। यहाँ नामों का क्रम लेखन स्तर की दृष्टि से नहीं, लेखन समय की दृष्टि से रखा गया है, जिसमें लेखकों की भूमिकाओं का आश्रय लिया गया है।

× × ×

धर्मवीर भारती का एक कहानी संग्रह 'चाँद और टूटे हु
वर्षों पूर्व प्रकाशित हुआ था, उसके बाद उनकी कुछ प्रसिद्ध
'गुल की बन्नो', 'सावित्री नं० २', 'यह मेरे लिए नहीं' तथा '
आखिरी मकान' आदि प्रकाशित हुई हैं। इनके अतिरिक्त उनकी
उल्लेखनीय कहानियाँ 'धुआँ', 'मरीज नम्बर सात', 'अगला अ
'हरिनाकुश का बेटा', 'कुलटा' हैं। भारती की कहानियाँ नगरी
तल पर अधिक टिकी हैं और वहाँ के निम्न-मध्यवर्ग के जी
उन्होंने अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि एवं यथार्थता से चित्रण किय
भारती प्रारम्भ में प्रगतिशील आन्दोलन के साथ रहे हैं, और
कहानियों पर इसकी स्पष्ट छाप देखी जा सकती है। तथाकथित
वादियों की भाँति सिद्धान्तवादिता अथवा प्रत्येक वाक्य में सत्य
और सूरज उगाने के बजाय उनकी कहानियों मे आस्था, विश्व
संकल्प और संघर्षशील क्षमता की प्रवृत्ति मिलती है जिससे
कहानियाँ विशिष्टता प्राप्त कर सकी हैं।

भारती अपने को स्वतः मे सम्पूर्ण, निस्संग, निरपेक्ष, सत्य नही
रते। उनकी कहानियों पर स्वभावतः उनकी परिस्थितियो, जीवन मे
और आकर चले जाने वाले लोग, समाज, वर्ग, संघर्ष, समकालीन
नीति और साहित्यिक प्रवृत्तियो का यथेष्ट प्रभाव पड़ा है। उन्हो
स्थान पर लिखा है, कितना अजीब अकेलापन है—राह है—क
घर है लेकिन कुछ भी नही। एक विराट अनस्तित्व। अन्धेरा,
श्चय, विराट, अथाह और उसके समक्ष में—निहत्था—अपने
और भविष्य से भी वंचित। जहाँ पहुँचा था वहाँ से चला हूँ, जहाँ से
था वहाँ जा रहा हूँ, पर जहाँ पहुँचा था, वह डूब चुका है और
जाना है, वह पता नही, अन्धेरे के पार है भी या नही। एक वि
अनस्तित्व, शून्य, अन्धकार···इसीलिए भारती स्वीकारते हैं कि

नही चाहते । जीना चाहते है और अनस्तित्व मे से अस्तित्व
लिए अभिव्यक्त करना चाहते हैं अपने को, और बिना संसार
अपने को अभिव्यक्त कैसे करेंगे, अत. हम किसी एक स्तर प
और अर्थ देते हैं हर चीज को और हर चीज के माध्यम से अपने
पाए हुए और पाकर खोये हुए ससार को किसी एक स्तर पर
हैं । ऐसे स्तर पर जहां कुछ भी फिर कभी धुंधला और अर्थहीन न

इसी पृष्ठभूमि पर धर्मवीर भारती की कहानियो का मूल
होना चाहिए । उनमे पूरे से एक को पा लेने और एक इकाई के
से पूरे परिवेश को खोजने और उसी इकाई से सम्बद्ध करने की
स्पष्टतया लक्षित होती है । इन कहानियो मे जीवन मे जीए हुए
मर्मों, सवेदनों—सुख-दु ख को स्वानुभूति के स्तर पर लाया
चित्रित किया गया है, जिसमे लेखक होते हुए भी पूर्णतया नि-
और यह तटस्थता ही इन कहानियो को गहन सवेदनशील
पूरित करती है । इन कहानियो मे जो उल्लेखनीय तथ्य
होता है, वह यह कि भारती भी अपनी चरम निजि अ
और व्यापक ससार, क्षण और निरवधि काल के बीच
राह पर कही एक भूमि है, जहां शून्य को पराजित कर हम
है स्थायित्व देने के लिए और सार्थकता पाने के लिए ।
कारण कदाचित यह है कि धर्मवीर भारती यह स्वीकारते हैं, एक
पूर्ण मायस्थिति है, जो अपने को रचनाकार मानते हुए भी अप
सामान्य से पृथक नहीं मानती, रोजमर्रा की जिन्दगी मे अपने को
शिनी नही मानती । ऐसे लोग असाधारणता का बाना नही
सहज रूप मे जीवन को सम्पूर्ण परिवेश मे जीने के हामी हैं,
को हारते नहीं, जगत को अस्वीकारते नहीं, और अपने हर अकेले

किन के द्वारा अपने को 'सर्व' से 'प्रत्येक' से जोड़ने की

भारती की इधर कुछ कहानियाँ, विशेषत. 'गुल की बन्नो', 'यह मेरे लिए नही', 'बन्द गली का आखिरी मकान' और 'सावित्री न० २' को देखकर कुछ 'सुविज्ञ जनो' (!) ने अनास्था, विभ्रान्त स्थितियो एव कुण्ठा का आरोप लगाया है, जो कम हास्यास्पद नही है। चाहे वह दीनू की पुकार हो या सावित्री की करुणा, इन सभी कहानियो के पात्रो मे अपूर्व सप्राणता ही नही यथार्थ की गहरी पकड लक्षित होती है। मै समझता हूँ, भारती की कहानियो की सर्वाधिक प्रमुख विशेषता यह है कि उनके पात्र एव स्थितियाँ यथार्थ जीवन के लोगो एवं स्थितियो की स्थानापन्न (Substitutes) बनकर उभरती हैं, यही कारण है कि वे हमारे अपने जीवन के विभिन्न रगो के सजीव एव यथार्थ चित्रण प्रतीत होते है और उद्वेलित करते है। 'हरिनाकुश का बेटा', 'कुल्टा', 'अगला अवतार' तथा 'मरीज न० सात' आदि कहानियो मे भारती की आस्था-*विश्वास एव जीवन से जूझने की अपूर्व जिजीविषा* का सकेत मिलता है। इन कहानियो मे गहन मानवीय सवेदना और सजग सामाजिक चेतना दृष्टिगत होती है। सोद्देश्यता एव नवीन मूल्यान्वेषण के आधार पर नव-मानववाद की स्थापना उनकी कहानियो का मूल स्वर है। आधुनिक सचेतता को वहन करने मे पूर्णतया सक्षम भारती की कहा-नियो मे अपूर्व सवेदनशीलता, सामाजिक दायित्व का निर्वाह करने का आग्रह, नवीन सत्यो की खोज एव स्थापना और यथार्थपरक सामाजिक परिवेश के बहुविविध पक्षो के सूक्ष्म उद्घाटन करने की प्रयत्नशीलता परिलक्षित होती है, जिसमे उन्हे अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई है।

शिल्पगत दृष्टि पर भी धर्मवीर भारती की कहानियाँ सफल सिद्ध हुई हैं, पर वे राजेन्द्र यादव के अर्थ मे उद्देश्यहीन ढग से कलावादी नही है और न शिल्प के अभिनव प्रयोगो के प्रति उनका अटूट आग्रह है। उनका शिल्प के नए रूपो की खोज कथ्य को प्रभावशाली ढग से प्रस्तुत करने की अनिवार्यता से उत्पन्न माँग है, निरर्थक पच्चीकारी नही। यही कारण है कि रूप या फॉर्म के परम्परागत स्वरूप के प्रति विद्रोह

और नए शिल्प प्रयोग की उनकी सीमाएँ रही हैं, जिनमें सोद्देश्यता का ही आग्रह अधिक रहा है। उनकी भाषा चित्रात्मक है और वह अलग रूप विधानों का निर्माण करती है। जो अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम बनकर उभरती है।

मोहन राकेश ने कहानी के क्षेत्र में एक लम्बी यात्रा तय की है और नई कहानी के सन्दर्भ में उनके उल्लेख किए बिना कोई चर्चा अधूरी प्रतीत होती है। 'इंसान के खण्डहर', 'नए बादल', 'जानवर और जानवर' 'एक और जिंदगी' आदि उनके अनेक कहानी संग्रह प्रकाशित हुए हैं, जिनकी उल्लेखनीय कहानियों में 'मलबे का मालिक', 'मंदी', 'परमात्मा का कुत्ता', 'अपरिचित', 'उसकी रोटी', 'मिस पाल', 'एक और जिंदगी', 'सुहागिनें', 'नए बादल' आदि काफी प्रसिद्ध हुई हैं। उनकी कहानियों का सरलता से वर्गीकरण किया जा सकता है। एक वर्ग उनकी आदर्शवादी कहानियों का है, जो परिवर्तित सन्दर्भों में प्रेमचन्द परम्परा की कहानियाँ प्रतीत होती हैं। इनमें 'मलबे का मालिक', 'मंदी', 'जगला'[१] आदि मुख्य हैं। दूसरा वर्ग जिंदगी के कटु यथार्थ को सत्य ढग से प्रस्तुत करने वाली कहानियों का है, जिसमें 'नए बादल', 'उसकी रोटी', 'परमात्मा का कुत्ता', आदि मुख्य हैं। तीसरा वर्ग पेचीदा कहानियों का है, जिसमें 'जानवर और जानवर', 'मिस पाल', 'ग्लास टैंक', 'फौलाद का आकाश', 'ज़ख्म'[२] आदि की गणना की जा सकती है। चौथा वर्ग ऐसी कहानियों का है जिनका मूल स्वर सेक्स है इनमें सुनाहे

१. नई कहानियाँ (दिसम्बर १९६४), दिल्ली।
२. धर्मयुग (दिसम्बर १९६४), बम्बई।

बेजरूर', 'अनिवारी अन्तर', 'कमरा की छाया में', 'उर्मिल जीवन', 'ग्लास टैंक', 'एक ठहरा हुआ चाकू', 'पाँचवें माले का फ्लैट', तथा 'सेफ्टी-पिन',[1] आदि प्रमुख हैं। अपनी अनुभूतियों को लेकर जो कहानियाँ मोहन राकेश ने लिखी हैं, वे अधिक मर्मस्पर्शी बन गई हैं जिनमें 'सुहागिनें' तथा 'एक और ज़िन्दगी' उल्लेखनीय है।

मोहन राकेश की कहानियों की प्रमुख विशेषता मनुष्य को उसके परिवेश में देखने की यथार्थ दृष्टि है। उनके अनुसार आदमी 'पूरे' को एक साथ नहीं देख पाता। 'पूरे' के साथ, उसके अन्दर और उसके सन्दर्भ बदलकर भी बदलने के प्रोसेस को एक साथ पकड़ नहीं कर पाता। इसका 'पूरे' के साथ अपने रिश्ते से ही वह इन्कार करे, तो वह इन्कार उसकी सीमा हो सकती है पर कई बार कोरा हठ, खुदगर्जी और बुजदिली भी। वे स्वीकारते हैं कि इकाई के रूप में आदमी का अपना एक अलग अस्तित्व है उस अर्थ में लेखक और कलाकार का भी, पर दूसरी इकाइयों से स्वतन्त्र और निरपेक्ष वह कहीं पर नहीं है। इकाई के रूप अपने को जानना भी उसके 'पूरे' के अन्दर जीने का ही परिणाम है। धरातल के स्तर पर हर आदमी अपनी जगह 'एक' है। अकेला हालांकि यहाँ भी नहीं, पर बोध के स्तर पर वह किसी भी तरह 'एक' या 'अकेला' नहीं है। बोध में वह प्रभावों को समेटता है और प्रभावों की शुरुआत से ही उसके 'सब' होने की स्थिति समाप्त हो जाती है। यह एक अनिवार्य वैज्ञानिक परिस्थिति है कि इकाई के रूप में अपना कोई गणित नहीं है।

मोहन राकेश की ये कहानियाँ, जो सामाजिक सन्दर्भों में विकसित हुई हैं और जिनमें यथार्थपरक सामाजिक दृष्टिकोण उभरा है, उनका कथ्य किसी अकेले व्यक्ति का न होकर पूरे समय का है और वह है एक आकुलता, निरन्तर बढ़ती हुई आकुलता। आकुलता में एक गहरा असन्तोष

1. ज्ञानोदय (कहानी 'विशेषांक' १९६४), कलकत्ता।

भी है और विद्रोह भी, पर उनकी परिणति आस्था, संकल्प और संघर्ष में ही हुई है। इन कहानियों में जो सामाजिक यथार्थ उभरता है, वह मोहन राकेश की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि, सजगता एवं सामाजिक दायित्व के निर्वाह की भावना से प्रेरित हैं। इनमें अनुभूति का जो स्तर प्राप्त होता है, उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध समकालीन यथार्थ, समय एवं परिवेश से है—व्यक्ति से परिवार, परिवार से राष्ट्र और राष्ट्र से मानव-समाज तक का पूरा परिवेश। स्वयं मोहन राकेश की धारणा है कि वे इनमें से किसी एक से कटे रहकर शेष से जुड़े नहीं रह सकते, अपने पास के सन्दर्भों से आँख हटाकर दूर के सन्दर्भों में नहीं जी सकते। 'जगला', 'एक और जिन्दगी', 'मन्दी', 'मलवे का मालिक', 'उसकी रोटी', तथा 'नए बादल' आदि कहानियाँ इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं। मूलतः वे समष्टि चिंतन से प्रभावित कहानीकार हैं, पर उनकी ऐसी कहानियाँ भी हैं, जिनमें व्यष्टि चिंतन अभिव्यक्त हुआ है। 'सुहागिनें', 'मिस पाल', 'एक और जिन्दगी' आदि ऐसी ही कहानियाँ हैं। इन कहानियों में नए सामाजिक सन्दर्भों की खोज का प्रयत्न लक्षित होता है और अपनी व्यष्टि चिंतन से प्रभावित कहानियों में भी वे व्यापक परिवेश में सामाजिक यथार्थ की दृष्टि को विस्मृत नहीं कर पाते, इसलिए स्थूल अर्थ में तो वे व्यष्टि चिंतन की कहानियाँ हैं, पर सूक्ष्म अर्थ में वे समष्टिगत चेतना का सम्बल बन जाती हैं। उनकी कहानियों में आधुनिकता के सन्दर्भ भी इन्हीं दोनों स्तरों पर खोजा जा सकता है, पर कुल मिलाकर ये सभी कहानियाँ सश्लिष्टता के गुणों से ओत-प्रोत हैं, जिनमें सजग सामाजिक चेतना, मूल्यों के प्रति निष्ठा, मानव के प्रति आस्था एवं नए यथार्थ के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म तत्वों को पहचानने की क्षमता का आभास प्राप्त होता हैं।

लेकिन राकेश की वे कहानियाँ, जिन्हें उन्होंने कदाचित् सामयिक कहानी फ़ैशन को ध्यान में रखकर लिखा है, उनकी कहानी कला के दूसरे पक्ष का परिचय देती हैं, जिनसे व्यक्तिगत तौर पर मैं सहमत नहीं

हैं। 'ग्लासटैंक', 'फौलाद का आकाश', 'पाँचवें माले का फ्लैट' तथा 'सेफ्टी-पिन' आदि कहानियाँ मुझे पूर्णतया उद्देश्यहीन लगती हैं और जिस यथार्थ के उद्घाटन एवं नए सामाजिक सन्दर्भों के अन्वेषण के लिए वे इतने प्रख्यात हैं उस लिहाज से इन कहानियों पर सहसा विश्वास नहीं होता। इनमें मैनरिज्म अधिक लगता है और सिम्बालिज्म, अर्थाभिव्यक्ति, सांकेतिकता तथा अमूर्त प्रतीक विधान के बावजूद ये कहानियाँ कोई प्रभाव डालने में असमर्थ रहती हैं और मोहन राकेश के ही शब्दों में कहूँ, तो वे हमें कोई नई दृष्टि यथार्थ की नहीं देतीं, मात्र लिजलिजापन उत्पन्न करती हैं। सन्तोष का विषय यह है कि इस ढंग की कहानियाँ उन्होंने अधिक नहीं लिखी हैं।

शिल्प की दृष्टि से राकेश की कहानियाँ दो वर्गों में आएँगी। एक वर्ग उन कहानियों का है, जिनमें प्रयासहीन शिल्प के कारण कथ्य सीधे एवं सहज ढंग से पाठकों तक पहुँचता है। दूसरा वर्ग उन कहानियों का है, जिनमें शिल्प प्रयोग अत्यन्त दुरुह एवं जटिल सायास ढंग से किए गए हैं। इस सम्बन्ध में मोहन राकेश को कला के शिल्प को या कला की वस्तु या कलाकार की अनुभूति से अलग करके देखना गलत लगता है क्योंकि अनुभूति का अपना ही एक शिल्प होता है, जिसकी, अपने माध्यम की सीमाओं में, हर कलाकार खोज करता है। हर युग की वास्तविक कला अपने युग कथ्य को अपने में समेट कर चलती है और उसी के अनुसार अपने अन्दर से अपने शिल्प का विकास करती है। इसलिए शिल्प को सराहने या बदलने की बात प्रश्न रूप में मोहन राकेश के सम्मुख नहीं आती। वह यथार्थ और उसकी अनुभूति को उसके अपने शिल्प में व्यक्त करने की प्रक्रिया को महत्वपूर्ण स्वीकारते है, जो कि हर-एक के लिए हर बार एक नई चुनौती हो सकती है। इसीलिए राकेश की कहानियों में भारती की कहानियों की भाँति अनावश्यक पच्चीकारी नहीं है और न वे कलावादी हैं। उनके पास मूलत: एक नई स्वस्थ सामाजिक दृष्टि है और व्यक्ति, परिवेश एवं नवीन सामाजिक सन्दर्भों को सूक्ष्मता से पहचाने

: मैं कहानी को पूर्ण ...

उजागर करने की अपूर्व क्षमता है, जिसका प्रमाण उनकी समष्टि से प्रभावित अनेक कहानियाँ हैं।

नरेश मेहता मूलतः कवि हैं। कहानी के क्षेत्र में यद्यपि वे बाद में, फिर भी शीघ्र ही उन्होंने प्रथम पंक्ति के कहानीकारों में अपनी बना ली है। उनकी कहानियों का एक संग्रह 'तथापि' प्रकाशित है। इसके अतिरिक्त 'एक दीर्घकहीन स्थिति', 'श्रीमती मारटन', फूल', 'अनबीता व्यतीत' 'एक इतिश्री' 'एक समर्पित महिला', 'वर्षा' आदि कहानियाँ अलग से प्रकाशित हुई हैं। यों तो नई कहानी एक विशेषता यह है कि किसी एक सामान्य मापदण्ड बनाकर सभी नीकारों का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता पर इसके बावजूद एक रग के कई कहानीकार मिल सकते हैं, जैसे सामाजिक सन्दर्भों को र लिखी जाने वाली मोहन राकेश और कमलेश्वर की कई कहानियाँ ही धरातल की हैं, हालांकि दोनों के व्यक्तित्व की उन पर पूरी-पूरी है। लेकिन नरेश मेहता की कहानियाँ एक विभिन्न दृष्टिकोण से देखी जा सकती हैं। उनके रागात्मक बोध की आधुनिक सचेतना, तियों की कान्दाश शालीनता, भाषा की नई अर्थवत्ता, पात्रों के अभि- परिपार्श्व, कविता जैसी रसानुभूति कराने वाली संवेदनशीलता एवं र्थ के नए सन्दर्भों के कारण उनकी कहानियाँ विशिष्ट उपलब्धियाँ और कदाचित् यही कारण है कि बहुत कम लिखने के बावजूद वे णी कहानीकारों की पंक्ति में चर्चित होते हैं।

उनकी कहानियों के दो वर्ग बनाए जा सकते हैं। एक वर्ग उन ानियों का है, जिनमें वे सामाजिक सन्दर्भों एवं नवीन यथार्थपरक

परिवेश की सीमाओं से बँधे रहे है। इनमे 'दुर्गा', 'जिसका बेटा', 'ओमहे
मानस तथा 'वह मर्द थी' आदि कहानियाँ ली जा सकती है। दूसरा
वर्ग उन कहानियों का है, जिनमे व्यष्टि चिंतन, व्यष्टि सत्य एवं 'एक
की' पात्र की प्रयत्नशीलता है, हालाँकि नरेश मेहता का प्रयास रहा है
कि वह 'पात्र' भी 'पूरे' से असम्पृक्त न हो, इसीलिये वह वैयक्तिक चेतना
से प्रभावित होकर भी उन्हीं आन्तरिक स्थितियों को स्वरूप दे सके
है, जिनमे विराटता का बोध ही न हो वरन् व्यापक जीवन मूल्यों की
समग्रता का भी समावेश हो सके। वे अपनी रचना प्रक्रिया में निर्मम
निस्पृह एवं निर्वैयक्तिक रह सके है, क्योंकि वे आग्रहों को जीवन का
अन्तिम सत्य स्वीकार कर नतशिर हो जाने वाले कहानीकार नही है।

इसके कारणों को स्वयं नरेश मेहता ने ही स्पष्ट करते हुये लिखा
है कि लेखन मुझे सबसे बड़ी प्रतिश्रुति है, जिसे कमिटमेन्ट भी कह सकते
है। ऐसी प्रतिश्रुति जिस न केवल व्यक्ति, बल्कि दुराग्रहहीन स्वतंत्र सोचना
होता है। ऐसा सोचना एक नैतिक दायित्व है। व्यक्ति और स्वतंत्र मे
अन्तर यह है कि व्यक्ति तो हम होते ही है, पर स्वतंत्र अनेक स्रोतो से
अर्जित किया जाता है। यही कारण है कि नरेश मेहता की कहानियाँ
एक भिन्न स्तर पर प्रतिष्ठित होती है। अपनी कहानियो मे वे अपने कवि
को छुपा नही कर पाये है। उनका कवित्व कहानियो मे भी उभरा है
पर सन्तोष की बात यही है कि इसके फलस्वरूप कहानियों को मधुर
काव्यात्मकता और प्रवाह ही प्राप्त हुई है अमूर्त साकेतिकता एवं
सूक्ष्म बिन्दु बनकर अस्पष्टता का बौद्धिक आभास तो वे नही ही बन
सकी है।

प्राय आरोप लगाया जाता है कि नई कविता की आत्मपरकता,
कुण्ठा, पलायन एवं रोमानी दृष्टिकोण नरेश मेहता अपनी कहानियो मे
भी ले आये है पर मुझे इसमे पूर्वाग्रहो के अतिरिक्त तथ्य नही दृष्टिगोचर
होता। 'एक दीर्घहीन स्थिति' या 'दूसरे की पत्नी के पत्र' की यथार्थता
को क्या कुण्ठापरकता की संज्ञा दी जाएगी या उन्हें सामाजिक बोध से

मुक्ति दी जायगी ? इस तथ्यहीन बात पर विवाद करने के बजाय मैं यह कहना चाहता हूँ, नरेश मेहता की कहानियो के पात्र वैयक्तिक से लगते अवश्य हैं, पर वे पर्सनल नही हैं। लेखक उनमें इन्वाल्व न होकर पूर्णतया तटस्थ एव नि.सग हो जाता है और उसे सामाजिक सत्य का रूप देकर तथाकथित आधुनिक जीवन की यथार्थता का स्थानापन्न बना देता है, जिससे वे यथार्थ के नये सूत्रो को स्पष्ट करने मे पूर्ण समर्थ रहते हैं। उनकी कई कहानियो मे प्रेम का चित्रण हुआ है, पर यह प्रेम भावुकता-पूर्ण ढग से काल्पनाशील आधार पर चित्रित न होकर आज के परिवर्तित सन्दर्भों मे प्रेम के नवीन अर्थों को आधुनिक परिवेश के भीतर अभिव्यक्त हुआ है : यह प्रेम चित्रण इसीलिए आत्मपरक आभास देते हुए भी समाज-सापेक्ष बन जाता है और व्यापक समष्टि चिंतन की ओर सूक्ष्म सकेत करता है।

नरेश मेहता की कहानियो मे सामाजिकता एव सोद्देश्यता समकालीन परिवर्तनशीलता तथा नए उभरने वाले मूल्यो के सन्दर्भ मे स्पष्टतया लक्षित किये जा सकते हैं। उनमे सजग सामाजिक चेतना, नवीन मूल्यों के अन्वेषण एव परिवर्तित मानदण्डो को अपनाने (दुर्गा, वह मर्द थी, तथापि आदि कहानियाँ) की आकुलता सशक्ता से अभिव्यक्ति प्राप्त कर सकी है। उनकी कहानियो की सर्वाधिक प्रमुख विशेषता उनकी अनूठी प्रतीक योजना एव भाषा का कलात्मक सौष्ठव है। भाषा अभिव्यक्ति एवं विषयवस्तु मे वे आद्यान्त सस्कारशील कहानीकार हैं, इसीलिए उन कहानियो की प्रथम प्रतिक्रिया किंचित जटिलता का आभास दे सकती हैं, पर कहानियो मे व्याप्त सश्लिष्ट गुणो के कारण वे अभिव्यक्ति की नई मर्यादाएँ स्थापित करने में सफल सिद्ध होती हैं।

× × ×

घोर आत्म-परकता, कुण्ठा, घुटन एव पलायनवादी प्रवृत्तियो के घने जाल से हिन्दी कहानी को खुली वायु मे लाकर नया अर्थ देने का श्रेय बहुत अशो मे कमलेश्वर को है। अब तक उनके तीन कहानी सग्रह 'राजा निरबसिया', 'कस्बे का आदमी' तथा 'खोयी हुई दिशाएँ' प्रकाशित हो चुके हैं। कमलेश्वर की पहली कहानी 'अप्सरा' (एटा से निकलने वाली) अल्पजीवी कहानी पत्रिका मे १९५० मे प्रकाशित हुई थी। तब से वे निरन्तर लिखते आ रहे है। उनकी स्मरणीय कहानियो मे 'देवा की माँ', 'सुबह का सपना', 'राजा निरबसिया', 'कस्बे का आदमी', 'नीली झील', 'तीन दिन पहले की रात', 'गर्मियो के दिन', 'खोयी हुई दिशाएँ', 'दिल्ली मे एक मौत', 'पीला गुलाब', 'एक थी बिमला', 'एक रुकी हुई जिन्दगी', 'कुछ नही, कोई नहीं', 'पराया शहर', 'बदनाम बस्ती', 'जो लिखा नहीं जाता' तथा 'ऊपर उठता हुआ मकान' आदि की गणना की जा सकती है।

कमलेश्वर की स्वाभाविक प्रवृत्ति नए पन की ओर रही है। बहुत खोजने पर चाहे दो-एक कहानी पुराने पैटर्न पर उनके यहाँ मिल जाए, पर उनकी अधिकाश कहानियाँ हर लिहाज से नई हैं। उनकी कहानियो का यह नयापन राजेन्द्र यादव के तथाकथित 'नए पन' से अधिक सार्थक एव सफल है। कमलेश्वर ने एक जगह लिखा है, मानवीय मूल्यो के सरक्षण, जीवनी शक्ति के परिप्रेषण एव सामाजिक नव-निर्माण की जितनी उत्कट प्यास इस पीढी के कहानीकारो मे है, वह पिछले दौर में नहीं थी। आज के हर कहानीकार मे कुछ कहने के लिए एक अजब-सी अकुलाहट और बेबसी है, जो निश्चय ही इस सक्रान्तिकाल की देन है जिसने एक ओर यदि हमारी सवेद्य शक्तियो पर दबाव डाला है, तो दूसरी ओर हमारी चेतना को भी जाग्रत किया है। इसलिए हम देखते हैं कि आज की कहानियाँ कल्पना के पखो पर नही उडती बल्कि दुनिया की व्यावहारिक और वास्तविक जिन्दगी से उनका सीधा सम्बन्ध है। धरती को हर कण-कण के प्रति लगाव, हर मोड़ के प्रति जिज्ञासु भाव

और हर दर्द को बाँट देने की सहानुभूतिपूर्ण विह्वलता उनमें है। इस कसौटी पर जब कमलेश्वर की कहानियाँ परखी जाती हैं, तो उनमें विशिष्टता के कई गुण स्पष्ट होते हैं।

सामाजिकता एवं सोद्देश्यता कमलेश्वर की कहानियों की प्रमुख विशेषताएँ हैं। समकालीन जीवन की पराजय, विघटन, घुटन तथा आस्था निराशा को उन्होंने पूर्ण संवेदनशीलता के साथ अपनी कहानियों में अभिव्यक्ति देने की चेष्टा की है। इन कहानियों में विषय की विविधता के साथ व्यापक परिवेश व नव आयामों को स्पर्श करने का प्रयत्न किया गया है। पीड़ित और पराजित मध्य वर्ग की मर्म वेदना का चित्रण करने के साथ ही कमलेश्वर ने उस सामाजिक यथार्थ का प्रभावशाली उद्घाटन किया है, जो समकालीन युग की प्रत्येक दिशाओं में हमारे जीवन के साथ घुला-मिला है। इस पर्दे उघेड़ने में उन्होंने निर्ममता से काम लिया है और प्रत्येक सामाजिक स्थिति का यथार्थ चित्रण करने का प्रयत्न किया है। पर इसका यह अभिप्राय नहीं है कि उनकी ऐसी कहानियाँ प्रकृतवादी हैं। उन्होंने इन स्थितियों का चित्रण किसी फोटोग्राफर की भाँति नहीं, वरन् लेखकीय संवेदनशीलता के साथ किया है जिसका मूल स्वर आशावादी है, निराशा एवं घुटन का नहीं। सामाजिक विकृतियों के प्रति कमलेश्वर के मन में तीव्र आक्रोश है और वर्तमान रूप-विधान के प्रति घोर असंतोष। इस स्थिति में यथाशीघ्र परिवर्तन उनकी हार्दिक आकांक्षा है। पर वर्तमान स्थिति के अन्तर्विरोध ने उन्हें किसी भी कहानी में असन्तुलित नहीं बनाया है और न उनके स्वर को कहीं अविश्वास ही प्रदान किया है। उन्होंने समस्याओं के बाह्य चित्रांकन से ही संतोष न कर उनमें गहरे पैठने की कोशिश की है और उनके मूल कारणों को खोज निकालने और स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उनका विश्वास है कि कलाओं के विकास का आधार ही सामाजिक साम्बन्धिक अस्तित्व है। यदि यह अस्तित्व उनसे निरपेक्ष होता तो केवल अन्तर्विरोध में जी सकना ही सम्भव होता।

कमलेश्वर की कहानियों में आधुनिक सचेतना अपने पूर्ण रूप में अभिव्यक्त हुई है। इन कहानियों में व्याप्त आधुनिकता वही है, जो अपने ऐतिहासिक क्रम और सामाजिक सन्दर्भों से प्रस्फुटित हुई है जो प्रभावों को तो ग्रहण करती है, पर अपने आन्तरिक और बाह्य प्रारूपों में नितान्त जातीय और राष्ट्रीय है। उनकी किसी भी कहानी को उठा लिया जाए, रूढ़ियों के प्रति तिरस्कार एवं विद्रोह, प्रगतिशीलता एवं नवीन मूल्यों के प्रति आग्रह सशक्त रूप में प्राप्त होगा। निर्माण की अकुलाहट और परिवर्तन की बेबसी पर उनकी अधिकांश कहानियों के रेशे सगुंफित किए गए हैं, जो निरन्तर नई जिन्दगी की ओर संकेत करते हैं। उनमें आरोपित परवशता, कुंठाएं तथा वर्जनाएं नहीं चित्रित हुई हैं। इस दृष्टि से कमलेश्वर की दृष्टि साफ एवं स्वस्थ है तथा भविष्य की वास्तविकता को पहचान सकने की शक्ति से समर्थ है। पश्चिम की कुण्ठा, कुत्सा, अकेलापन, पराजय, और हताशा से उनकी कहानियाँ दूर हैं, इसीलिए उनमें विश्वास है, सहजता है। क्योंकि वे मानते हैं अमूर्त की अभिव्यक्ति एक खोज है, पर ग़लत सन्दर्भों में वही पलायन भी है। अमूर्तता, सूक्ष्मता का पर्याय भी नहीं, बल्कि वह बौद्धिकता का विरोधी भी है। अमूर्त को अभिव्यक्ति देना कला का दायित्व हो सकता है, पर अमूर्तता को प्रश्रय देना पलायन के अलावा कुछ और नहीं है। खोयी हुई दिशाएँ की अधिकांश कहानियाँ इसी निष्ठा का प्रमाण है।

इन कहानियों के सभी पात्र हमारे जाने-पहचाने हैं। कमलेश्वर ने बड़ी सफलता के साथ ही सतर्कता के साथ जीवन के यथार्थ से उठा कर कहानी में साकार कर दिया है। उनकी छोटी-से-छोटी प्रवृत्तियों एवं उनके विशेषताओं को उभार कर उन पात्रों के व्यक्तित्व की पूर्णता स्पष्ट करने एवं उनके अन्तस और बाह्य का सामंजस्य करने में उन्हें विशेष सफलता प्राप्त हुई है। ये पात्र वैयक्तिक से लगते हुए भी कमलेश्वर के पर्सनल नहीं हैं। वे हमारे जीए जाने वाले जीवन से ही सम्बन्धित है। इन पात्रों का सम्बन्ध कहीं समाज से कटा हुआ नहीं है

नैतिकता के प्रति विद्रोह एव अरक्षित नैतिकता की स्थापना का सशक्त स्वर प्रतिध्वनित होता है। यह उनकी कोई कमजोरी नहीं, वरन उनकी सतत जागरूकता की ओर सकेत करता है। नवीन मूल्यान्वेषण प्रयास-हीन शिल्प, प्रभावशाली भाषा, सजग सामाजिक चेतना, प्रगतिशील मानदण्ड एव सोद्देश्यता कमलेश्वर की कहानियो की प्रमुख विशेषताएँ हैं।

राजेन्द्र यादव की कहानियाँ शिल्प-प्रयोग की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। उनकी रुचि जितनी शिल्प-प्रयोग की ओर रही है, उतनी अन्य बातो की ओर नही। यह सन्तोष का ही विषय है कि 'किनारे से किनारे तक' कहानी सग्रह की कहानियाँ इनमे एक विशिष्ट परिवर्तन का सूचक है और इस सत्य की प्रतीक है कि अब उन्होने अपनी एक शैली बना ली है और उसी के अनुरूप आगे बढ रहे है। राजेन्द्र यादव की विशेष उल्लेखनीय कहानियो मे 'जहाँ लक्ष्मी कैद है', पास-फेल', 'बिरादरी बाहर', भविष्यवक्ता', 'टूटना' तथा 'लच टाइम' आदि हैं। सामाजिकता और सोद्देश्यता के लिहाज से राजेन्द्र यादव की कम ही कहानियाँ ऐसी हैं, जिन्हे उन्होने सफलता के साथ लिखा है। दुर्बोधता, जटिलता तथा अस्पष्ट एव आरोपित प्रतीको का सहारा लेने के कारण उनकी कई अच्छी कहानियाँ चौपट हो गई है। इस सम्बन्ध मे दो कहानियो 'सिलसिला' (सारिका '६४) तथा 'एक कटी हुई कहानी' (धर्मयुग '६४) का उल्लेख करना चाहूँगा। ये दोनो ही कहानियाँ बहुत अच्छी बन सकती थी, यदि उनमे आरोपित झूठे प्रतीक न होते। राजेन्द्र यादव की 'अभिमन्यु की आत्महत्या' और 'छोटे-छोटे ताजमहल' का भी यही हाल हुआ है। ये दोनो कहानियाँ जैसे सायास चौपट की गई है।

यहाँ इस बात का उल्लेख करना असंगत न होगा कि राजेन्द्र यादव में प्रतिभा की कोई कमी नहीं है। जहाँ शिल्प-प्रयोग एवं जबर्दस्ती नवीनता ढूँढने के चक्कर में वे नहीं पड़े, वहाँ उनकी कहानियाँ सशक्त, दोष रहित एवं श्रेष्ठ सिद्ध हुई हैं। 'बिरादरी बाहर', 'जहाँ लक्ष्मी कैद है', तथा 'टूटना' इस बात का प्रमाण है। इन कहानियों में आधुनिक संवेदना को वहन करने की पूर्ण सामर्थ्य है और लेखक की सामाजिक जवाबदेही तथा सजग सामाजिक चेतना अपने पूर्ण रूप में अभिव्यक्त हुई है। इन कहानियों में अन्य बातों के अलावा सबसे बड़ी बात तो यह है कि नए सामाजिक यथार्थ का उद्घाटन करने में राजेन्द्र यादव को पूरी सफलता प्राप्त हुई है। राजेन्द्र यादव की कहानियों में नवीनता है, कथ्य और कथन दोनों की—यह स्वीकार करने में किसी को आपत्ति न होनी चाहिए। पर महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि इस नए पन को उन्होंने किस सीमा तक परिनिष्ठित ढंग से अपनी कहानियों में प्रस्तुत किया है। पता नहीं क्यों, राजेन्द्र यादव अपनी कहानियों में चमत्कार उत्पन्न करने के लिए व्याकुल रहते हैं। व्याकुल ही नहीं, इसमें चमत्कार उत्पन्न करने के लिए कहानी की निर्मम हत्या कर देने में भी उन्हें कोई संकोच नहीं होता। उनकी दृष्टि में यही जासूसीपन भी शामिल है, इसलिए उनकी किसी कहानी को उठा लीजिए, किसी-न-किसी प्रकार की अजीब सी रहस्यात्मकता दृष्टिगोचर होती है। अगर उन कहानियों पर राजेन्द्र यादव का नाम न हो, तो मुझे आश्चर्य नहीं होगा। यदि कोई आलोचक या पाठक उनकी कहानियों को जासूसी कहानियाँ न करार दे, क्योंकि आजकल जासूसी कहानियों में भी शिल्प-प्रयोग होने लगा है और उनके 'साहित्यिक' मूल्यों के प्रति सतर्कता बर्ती जाने लगी है।

इन सब बातों के बावजूद राजेन्द्र यादव में निष्ठा है। उनकी कहानियों में आस्था की आवाज है, जो कहीं से खण्डित होती नहीं दिखाई देती। उनके स्वर की दृढ़ता एवं आत्मविश्वास तथा पात्रों की जीवन विषमताओं से संघर्ष करने की क्षमता एवं जीवन से जुड़े रहने की

प्रवृत्ति, नवीन मूल्यों एवं परिवर्तनशीलता को अपनाने की उदारता एवं प्रगतिशीलता राजेन्द्र यादव की कहानियों में यथेष्ट मात्रा में मिलती है। यदि शिल्प-प्रयोग के चक्कर को छोड़कर कहानी पर वे अधिक ध्यान दें, तो निश्चय ही वे अधिक सफल एवं श्रेष्ठ कहानियाँ लिख सकेंगे, यह निर्विवाद है, जहाँ उन्होंने ऐसा किया है, इस बात को स्वयं उनकी कहानियाँ ही समर्थित करती हैं।

कुलभूषण इस दशक के उन कुछ इने-गिने कथाकारों में हैं, जिन्होंने अपनी घोषणाओं और लेखन में कोई अन्तर्विरोध न रख कर बड़ी ईमानदारी से कहानियाँ लिखने की ओर प्रवृत्त रहे हैं। उनकी कहानियों के दो संग्रह 'सपनों का टुकड़ा' तथा 'पगडंडी और परछाइयाँ' प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें 'उजाला', 'आइसक्रीम', यह भी क्या जिन्दगी है' 'खोटी चवन्नी', 'वापसी', 'चूल्हे चौके के बाद', 'वर की खोज में', 'पैन और समुद्र' तथा 'महान् झूठ' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। कुलभूषण की कहानियों में व्यापक सन्दर्भ लिए गए हैं और विराट परिवेश में *विस्तृत आयामों को स्पर्श करने का प्रयत्न किया गया है।* उनकी कहानियों में सामाजिकता का दायरा भी बहुत बड़ा है और जीवन के बहुविधिय पक्षों का चित्रण करने का प्रयत्न लक्षित होता है। उन्होंने समकालीन युग की समस्याओं को, उसके यथार्थ को और विषमताओं-विकृतियों को गहराई से समझा है और उसे बड़ी सफलता के साथ प्रस्तुत किया है।

कुलभूषण की कहानियों में आधुनिक सचेतना और नवीनता पूर्ण रूप से अभिव्यक्त हुई है, पर यह सायास नहीं है। वह बड़े स्वाभाविक

भोजन', 'डिप्टी कलक्टरी', 'ज़िन्दगी और जोंक', 'असमर्थ हिलता हाथ', 'छिपकली' तथा नई कहानियों के ताज़ा अंक (अगस्त ६४) में प्रकाशित कहानी आदि हैं। इन कहानियों में आज के मध्यवर्गीय जीवन के यथार्थ के बहुविध पक्षों का बड़ी कुशलता एवं मार्मिकता के साथ उद्घाटन किया गया है। कुंठा मनोवृत्ति से संत्रस्त इस पूंजीवाद समाज में जीने वाले मध्य वर्ग के लोगों की लाचारियों, पीड़ाओं, घुटन एवं बदबूदार घिनौनी ज़िन्दगी की विवशताओं का अमरकान्त ने ऐसी मार्मिक संवेदनशीलता के साथ उद्घाटन किया है कि प्रत्येक कहानी एक स्थायी प्रभाव मन पर छोड़ जाने में सफल होती है।

अमरकान्त की कहानियाँ प्रयासहीन शिल्प का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। जितनी शिल्पगत सादगी इनकी कहानियों में प्राप्त होती है, उतनी किसी भी अन्य कहानीकार में नहीं। न कहीं चमत्कृत कर देने वाले वाक्य, न रहस्यमय तन्तुजाल, न चौंका देने वाली बात और न दुर्बोध एवं जटिल प्रतीक—ऐसा लगता है, जैसे ये कहानियाँ स्वयं में कुछ भी नहीं हैं, फिर भी बात उनकी गहरे उतर जाती है, और विराट मानव चेतना तथा व्यापक परिवेश को वे सफलतापूर्वक प्रस्तुत कर देती हैं। इन कहानियों की भाषा उतनी ही सादी है, जितनी कि ये कहानियाँ। भाषा की सादगी, यथार्थता एवं प्रवाहशीलता उनके कथन को प्रभावशाली अभिव्यक्ति देने में समर्थ सिद्ध होती है। आधुनिक चेतना से परिपूर्ण इन कहानियों में रूढ़ियों के प्रति विद्रोह एवं तिरस्कार, प्रगतिशीलता एवं नवीन मूल्यों की प्रतिस्थापना के प्रति उत्कट प्यास स्पष्ट रूप से उभरती है। ये कहानियाँ जीवन की यथार्थ झाँकी प्रस्तुत करने में पूरी तरह सफल होती हैं।

अमरकान्त की कहानियों की सबसे बड़ी विशेषता वातावरण निर्माण में उनकी समर्थता है। अपनी बात कहने के लिए जिस वातावरण का निर्माण वे करते हैं, उसमें इतनी यथार्थता और स्वाभाविकता होती है कि कहीं कोई आरोपण प्रतीत ही नहीं होता। 'दोपहर का भोजन' में,

कहानी की नायिका से जिस सत्य की अभिव्यक्ति कराई गई है, और जिस विवशता का वर्णन किया गया है, उसके लिए लेखक को कहीं अपनी ओर से वक्तव्य देने या किसी पात्र के मुँह से कुछ कहलाने की उन्हें जरा भी आवश्यकता नहीं पड़ी है। वातावरण का निर्माण और कहानी सब कुछ अपने आप कह देती है। 'असमर्थ हिलता हाथ' और 'देश के लोग' मे भी इसी प्रकार सत्य कहानी की आत्मा बन कर ही प्रतिध्वनित होता है, ऊपर से आरोपित नही, जिसे पाने के लिए लेखक को काफी खीचतान करनी पड़े। इन कहानियो मे सामाजिक जवाबदेही का निर्वाह बड़ी सफलता से हुआ है।

इस दशक के आचलिक कथाकारो मे मार्कण्डेय का नाम प्रमुख है। उनके अनेक कहानी-सग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। 'हंसा जाई अकेला', 'भूदान', 'धुन', 'पानफूल', तथा 'माही' उनकी उल्लेखनीय कहानियाँ हैं। ग्रामीण अचल से हटकर मार्कण्डेय ने नगरीय जीवन से सम्बन्धित भी कुछ कहानियाँ लिखी हैं, पर उनमे उन्हें विशेष सफलता नही प्राप्त हुई है। मार्कण्डेय की स्वाभाविक रुचि उनके आचलिक चित्रण मे है, जिनमे वे पूर्णतया सिद्धहस्त है। उनके आचलिक चित्रण की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि ग्रामीण जीवन का उन्हे प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त है। ग्रामो की समस्याओ, विशेषतया स्वाधीनता पश्चात् की ग्रामीण समस्याओं का उन्होने अत्यन्त निकट से अनुभव किया है। किस प्रकार गाँवो मे नवीनता का प्रवेश हो रहा है एवं स्थितियाँ परिवर्तित हो रही हैं, इसे उन्होने स्वय देखा है। इसीलिए गाँव उनकी कहानियो मे बड़े आत्मविश्वास, सहज एव स्वाभाविक ढग से उभरा है। उनका यह

ग्रामीण चित्रण उनकी कहानियों पर आरोपित नहीं प्रतीत होता, वरन् उनकी आत्मा बन कर ही उभरता है।

सामाजिकता एवं सोद्देश्यता (उन कहानियों को छोड़कर, जिन्हें उन्होंने दुर्बोधता एवं जटिलता के फैशन में अपना भी हस्ताक्षर जोड़ने के लिये जानबूझ कर लिया है) उनकी कहानियों की प्रमुख *विशेषताएँ* हैं। *ग्रामीणों के जीवन से किस प्रकार रूढ़ियाँ मिट रही हैं,* और वे नवीन चेतना को अपनाने के लिए जिस प्रकार लालायित हैं, वहाँ के लोक जीवन तथा आचार-व्यवहार आदि को मार्कण्डेय ने बड़ी कुशलता एवं यथार्थता से चित्रित किया है। उनके यथार्थवाद को समाजवादी यथार्थवाद (Socialist realism) की संज्ञा दी जा सकती है। वर्ग-वैषम्य के प्रति आक्रोश, सामाजिक असमानता एवं शोषण के प्रति असंतोष तथा बुर्जुआ मनोवृति एवं *पूँजीवादी सभ्यता के प्रति तीव्र विरोध की पृष्ठभूमि पर आधारित मार्कण्डेय की ये कहानियाँ* प्रगतिशील मान्यताएं स्थापित करती हैं, एवं नवीन मूल्यों को महत्व देती हैं।

मार्कण्डेय की कहानियों के पात्र जातीय हैं। उन्होंने जिन वर्गों से अपने पात्रों को लिया है, उस वर्ग की सारी विशेषताएं उनमें खींची हैं, इसीलिये वे अत्यन्त यथार्थ एवं स्वाभाविक प्रतीत होते हैं। पर उनकी जातीयता के बावजूद मार्कण्डेय ने अत्यन्त कलात्मक कौशल से उनके *वैयक्तिक स्वरूप की रक्षा भी की है। वातावरण का यथार्थ निर्माण* इन कहानियों की अन्य विशेषता है। छोटे से छोटे डिटेल्स एवं रेशे उन्होंने इतनी सफाई से सगुम्फित किये हैं कि वातावरण पूर्णतया सजीव हो उठे हैं।

रेणु यद्यपि कहानियों के क्षेत्र में काफी बाद में आए, पर पूर्ण विश्वास के साथ आए, और जिस पर अपने पहले उपन्यास से उन्हें रातों-रात ख्याति मिल गई, उसी भांति कहानियों के क्षेत्र में भी उन्हें ख्याति मिलते देर न लगी। उनकी कहानियों का अभी तक एक संग्रह 'ठुमरी' प्रकाशित हुआ है। 'रसप्रिया', 'पंचलाइट', 'तीसरी कसम अर्थात मारे गए गुलफाम', 'लाल पान की बेगम', 'टेबुल' तथा 'संवदिया' उनकी महत्वपूर्ण कहानियां हैं। रेणु की अधिकांश कहानियां आंचलिक परिवेश को लेकर लिखी गई हैं, जो लेखक के गहन अनुभव एवं तीक्ष्ण अन्तर्दृष्टि की परिचायक हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् गांवों में हुए छोटे-से-छोटे परिवर्तनों की परख रेणु को है, और अपनी कहानियों में उन्होंने बड़ी कुशलता से उन्हें प्रस्तुत किया है। रेणु की कहानियां यथार्थ अनुभूतियों एवं मार्मिक संवेदनशीलता के उत्कृष्ट नमूने हैं, जिन्हें कला के अनुपम सांचे में ढाल कर उपस्थित करने में उन्हें बड़ी सफलता प्राप्त हुई है।

रेणु की कहानियों में बिहार के गांवों के अंचल विशेष का जीवन अपनी पूरी यथार्थता एवं गहराई के साथ उभरा है। ग्रामीणों की कुटिलता एवं विशेषताएं, लोक-गीत तथा लोक-जीवन, परम्पराएं, रूढ़ियां एवं नवीन परिवर्तनशीलता, नवोन्मेष की भावना तथा जीवन, पंचायतें, नौटंकी, शहरों की धूम हवा, धूप, रोशनी आदि तमाम सारी बातें रेणु ने इतनी आत्मीयता से इनमें चित्रित की हैं कि वे स्वयं उनकी आत्म भोगी प्रतीत होती हैं। ग्राम्य जीवन में जो नवीन मूल्य आ रहे हैं, और प्रगतिशीलता के जो चिन्ह छिपे पड़े हैं, उन्हें उभारने का रेणु ने विशेष रूप से प्रयत्न किया है। उनकी कहानियों में सामाजिक यथार्थवाद बड़ी सफलता के साथ चित्रित हुआ है। मानव के विश्लेषण एवं अन्तर्द्वन्द्वों के प्रकाशन में रेणु को कमाल हासिल है। इस दृष्टि से 'तीसरी कसम' उनकी सर्वोत्कृष्ट कहानी है।

रेणु के पात्र भी मार्कण्डेय के पात्रों की भांति सजीव हैं। उनके

शिल्प विशेषता" उनकी अनुवीक्षक कलम और यथार्थ की गहरी पकड़ के कारण सामने आती तो है, पर उनकी पृष्ठभूमि में इन पात्रों की दलितता भी नहीं लुप्त हो जाती। रेणु के शिल्प में बड़ी नवीनता नज़र आती है। इस दशक के सभी कहानीकारों में उनकी अपनी ही अलग शिल्पगत परम्परा है जिसकी सफलता का प्रमाण यही है कि उन्हीं की देखा-देखी अनेक आंचलिक कहानीकार पैदा हो गये और उन्हीं की स्टाइल में अपनी कहानियाँ घसीटने लगे, पर उनमें से किसी को भी रेणु जैसी सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। इसका कारण ही यही है कि रेणु का शिल्प अपनी बातों को सशक्त ढंग से कहने का एक साधन भर है साध्य नहीं। उनका शिल्प कहानी की अनिवार्य आवश्यकता बनकर उभरता है, उस पर आरोपित नहीं होता। रेणु की कहानियों की चर्चा करते समय उनकी भाषा की चर्चा न करना बड़ी असंगत बात होगी। ग्राम भाषा किस प्रकार बदल रही है, नगरीय शब्द वहाँ किस प्रकार विकृत रूप में पहुँच रहे हैं, इन बातों का अध्ययन रेणु ने किया है, और ऐसे शब्दों को बड़ी सफलता के साथ प्रस्तुत किया है। लोक तत्वों के समावेश के बावजूद उनकी भाषा जानदार और सर्वजनीन है।

इस दशक के लेखकों में रमेश बक्षी का भी उल्लेखनीय स्थान है। उनकी कहानियों का एक संग्रह 'मेज़ पर टिकी हुई कहानियाँ' प्रकाशित हुआ है। उनकी चर्चित कहानियों में 'मुहर्रम की तैयारी','खाटी चोरी' 'वही का वही सवाल', 'बहती नावों में सपनों का तैरना', 'अलग-अलग कोण', 'तथा करदन तमामी उम्र', 'एक आत्महत्या', 'पटाखे वाले' ,

तथा 'आलू-गोभी' आदि प्रमुख है। अपनी कहानियों के
रमेश बक्षी ने एक स्थान पर लिखा है, 'कथा के प्राचीन
तथाकथित तत्वो के प्रति तीव्र विरोध हर कहानी में आप
नकी कहानियो मे यह कथन पूरी तौर पर सत्य उतरता है।
क दृष्टि से नयापन मिलता है।' हालांकि राजेन्द्र यादव की
शिल्प प्रयोग के चक्कर मे वे अपनी कई अच्छी कहानियाँ
र बैठे हैं। रमेश बक्षी ने अभी तक सैकडो कहानियाँ लिख
जो उनकी गहरी जीवन दृष्टि की परिचायक हैं। इन कहा-
जीवन के बहुविधिय पक्षो का उद्घाटन मिलता है, जिन्हें
ी ने व्यापक सामाजिक परिवेश और नए सन्दर्भों मे समेटने का
ास किया है। उन्होने एक अन्य स्थान पर लिखा है कि मैं
क्षण चित्रो को चमका कर रह जाता हूँ। पात्रों और घटना-
वरूप इतना विरल हो जाता है कि मात्र लकीरों से ही उनका
मिल जाता है।

ा बक्षी ने आधुनिक सचेतना को ठीक से समझा है और उसके
शों पर उनकी गहरी दृष्टि गई है। यही कारण है कि उनकी
मे आधुनिक सचेतना का अत्यन्त सतुलित रूप मिलता
पि उनकी कई कहानियो मे प्रतीक अत्यन्त जटिल एव दुर्बोध
हैं, तथा पात्र योजना अत्यन्त सश्लिष्ट हो गई है, पर यह लिए
न के टुकडे के कारण ही हुआ है, लेखक की अपनी किसी शिल्प-
ता के कारण नही। इस सम्बन्ध मे महत्वपूर्ण बात तो यह है
ने एक सफल कवि थे, और कविता के माध्यम से ही कहानियों
आए। इसका प्रभाव उनकी कहानियो पर स्पष्टतया पड़ा है,
क काव्यात्मकता आ गई है, पर वह कहानी के साथ घुल-मिल
ई है। इसलिये उनका प्रभाव तीव्र कर देती है। वह कहानियों
प्रकार आरोपित नहीं है। रमेश बक्षी इसमे इसलिए भी सफल
हैं कि यथार्थ की पकड़ उनकी गहरी है। उनकी जागरूकता एवं

गहन सामाजिक चेतना इन कहानियों में साफ देखी जा सकती है, जिसके कारण सामाजिक जवाबदेही का निर्वाह और सोद्देश्यता उनकी कहानियों में अनायास आ गई है।

स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धों को लेकर रमेश बक्षी ने कई कहानियाँ लिखी हैं और उनकी अधुनातन समस्याओं पर विचार किया है। उनकी इस कोटि की कहानियाँ काफी विवादग्रस्त रही हैं और उन पर अश्लीलता तथा अश्लीलता को लेकर कई आरोप लगाए गए हैं। पर इस सम्बन्ध में विचारणीय प्रश्न यह है कि ऐसे आरोपों को लगाने के पूर्व लेखक की विचारधारा, वर्तमान युग की परिवर्तनशीलता एवं जीवन के नवीन मापदण्डों को मानना पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना अपेक्षित है। इन कहानियों में रमेश बक्षी ने जिन विविध समस्याओं को लिया है, न तो वे उनकी स्वयं की गढ़ी हुई हैं,और न कहानी पर आरोपित हैं। वे समाज की अपनी उपज हैं, जिन्हें रमेश बक्षी ने पूरी यथार्थता एवं अपनी नैसर्गिक संवेदनशीलता से प्रस्तुत कर दिया है। उनके सम्बन्ध में शिकायत का कारण शायद यही है कि लेखक ने पूर्ण शिल्प-सौष्ठव के साथ उन्हें इतनी सहजता एवं स्वाभाविकता से प्रस्तुत किया है कि वे लेखक की अपनी स्वानुभूति बन जाती हैं, और आज का 'प्रोग्रेसिव' आलोचक (या कि रिएक्शनरी !) भला इसे कैसे बर्दाश्त कर सकता है कि वे लेखक की अपनी महसूस हों। समझ लेना चाहिए कि इन कहानियों तथाकथित परम्परागत नैतिकता के प्रति रमेश बक्षी का पूर्ण विद्रोह एवं तीव्र आक्रोश परिलक्षित होता है, जिसके स्थान पर उन्होंने व्यक्तिगत नैतिकता को महत्व दिया है, जिसकी उपयोगिता अधिकांश रूप में असंदिग्ध है। उन्हें लेखक ने बड़े तर्कपूर्ण ढंग से सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया है।

सायास नवीनता लाने और पाठकों को चौंकाने की प्रवृत्ति लेकर कहानियों के क्षेत्र में आने वाले लेखकों में निर्मल वर्मा का नाम प्रमुख है। उनका एक कहानी संग्रह 'परिंदे' के नाम से प्रकाशित हुआ है। उनकी चर्चित कहानियों में 'परिंदे', 'लन्दन की एक रात', 'पराये देश में', 'कुत्ते की मौत', 'पिक्चर पोस्टकार्ड', 'अन्तर', 'खोज', तथा 'एक शुरूआत' आदि प्रमुख हैं। निर्मल वर्मा की कहानियाँ, विशेष रूप से उनकी 'लन्दन की एक रात' के पहले की कहानियाँ रोमनी धरातल को लेकर लिखी गई हैं। 'लन्दन की एक रात' जो आज विश्व के अधिकांश भागों में चल रहे विषैले रंगभेद की नीति पर आधारित है, और जिसमें टोटल हॉरर का बड़ी कुशलता से व्यापक सन्दर्भों में चित्रण किया गया है, के पहले की कहानियाँ सामाजिकता से दूर हैं, और अधिक आत्मपरक हो गई हैं, यह सच है। उनमें पलायनवादी प्रवृत्तियों को अधिक प्रश्रय मिला है, और निर्मल वर्मा ने जीवन संघर्ष की कटुता से आँखें बन्द कर गीतों सदृश मधुरिमा लाने का प्रयत्न किया है, जिसके कारण वे कहानियाँ केवल क्षणिक प्रभाव डालने में ही सफल हो पाती हैं।

नामवर सिंह ने बड़े परिश्रम से निर्मल को प्रगतिशील मूल्यों को समझने वाले कहानीकार के रूप में सिद्ध करना चाहा है, जबकि उसका रंचमात्र भी निर्मल में नहीं है और एक भी कहानी वामपंथी विचारधारा से प्रभावित नहीं जान पड़ती। वे मूलतः व्यक्ति चेतना के कहानीकार हैं और कुछ कहानियों को छोड़कर उनकी घोर आत्मपरकता अज्ञेय और जैनेन्द्र की श्रेणी की है। उनके पास न तो कोई स्वस्थ दृष्टि है ौर न सामाजिक सन्दर्भ। कहीं-कहीं तो वे घोर प्रतिक्रियावादी जान हैं और आभास होता है कि उनकी दृष्टि प्रतिक्रियावादी तत्वों को कर चित्रित करने के प्रति है। आधुनिकता दूसरी चीज है और ट की आधुनिकता दूसरी चीज है। निर्मल में मात्र दृष्टि की आधुनकता है, वस्तु की नहीं, जो उनके पास विकलांग और विगलित रूप

से ही पहुँचती है। एक भावुकता भरी रूमानियत निर्मल पर हावी है जिसमें एक कुहरा है और एक हेम है। ये बदलकर भी रहनोगी साहब मौस्काही जाते है और कभी लता माथुर तथा बिट्टी बन जाती है। प्रेम की असफलता और परस्वरूप उत्पन्न अकेलापन, कुण्ठा, घुटन, उनकी अधिकांश कहानियों के मूलस्वर हैं। 'परिंदे' मे लतिका और डॉक्टर इस पर विजय पाने का प्रयत्न करते है, पर वह बहुत सतही ढंग से ही हुआ है।

निर्मल वर्मा की कहानियाँ मूलत विदेशी वातावरण को लेकर लिखी गई है जिसे उन्होंने भारतीय जामा पहना देने की असफल कोशिश की है। 'परिंदे' तथा 'लन्दन की एक रात' को छोड़कर उनकी अधिकांश कहानियाँ इसी वर्ग म आती है। निर्मल वर्मा के लिए आज की कहानी नवीनता का अर्थ मात्र इतना ही है कि वे विदेशी शब्दो का धड़ल्ले से प्रयोग करते हैं। चमत्कृत कर देने वाली बात या चौंका देने वाली भाषा का प्रचुर मात्रा मे प्रयोग करते हैं। यदि आज के पाठक को निर्मल वर्मा के ऊपर छोड़ दिया जाए तो विदेशी शब्द कोषो और वहाँ के सामाजिक जीवन के इतिहास पुस्तको एव बढ़िया विदेशी शराबो के नामो की लिस्ट वे प्रत्येक पाठक के लिए रखना आवश्यक करार दे। कहना न होगा, निर्मल वर्मा ने आज की कहानियो के सम्बन्ध मे अनेक भ्रान्तियाँ फैलाने मे अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है। उनकी कहानियाँ इस बात का प्रतीक है। दुर्बोध एव जटिल प्रतीक यदि उनकी कहानियो मे स्वाभाविक सृजन प्रक्रिया के रूप मे आते, तब तो कोई बात भी थी। पर वास्तविकता यह है कि इन झूठे, दुर्बोध एव जटिल प्रतीको को जबर्दस्ती अपनी कहानियो पर आरोपित करने की उन्होंने सायास चेष्टा की है। पर इधर उनकी 'अन्तर' और 'खोज' कहानियाँ पढने के बाद ऐसा लगता है कि सामाजिक जवाबदेही के निर्वाह एव सोद्देश्यता से पूर्ण उन्होंने अपना वास्तविक पथ सुनिश्चित कर लिया है, और कल हो सकता है कि वे भारतीय वातावरण मे ही यथार्थ के ऐसे रेशे पाएँ,

जिन्हें वे विदेशी वातावरण के आरोपण से अधिक महत्वपूर्ण समझें और अच्छी कहानियाँ 'सोद्देश्य' लिखें।

केशव प्रसाद मिश्र पिछले दस वर्षों से भी अधिक समय से कहानियाँ लिखते आ रहे हैं। उस दशक के प्रगतिशील कहानीकारों में उनका स्थान प्रमुख है। उनकी कहानियों का एक संग्रह 'मुमूर्त' के नाम से प्रकाशित हुआ है। 'गगाजल', 'उस रात के बाद', 'कोहबर की शर्त', 'कोयला भई न राख', 'पैरों के निशान', 'भीमसेन', 'तुलसी लग गई' तथा 'एक था सुधाकर' उनकी स्मरणीय कहानियाँ हैं, जिनकी समय-समय पर पर्याप्त चर्चा हुई है। केशव प्रसाद मिश्र की कहानियों के दो वर्ग बनाए जा सकते हैं। एक वर्ग उन कहानियों का है जिसमें उन्होंने पारिवारिक एवं सामाजिक समस्याओं को लेकर कहानियाँ लिखी हैं, जो प्रमुख रूप से निम्न मध्यवर्गीय जीवन से सम्बन्धित है। दूसरा वर्ग उन कहानियों का है, जो आचलिक परिवेश के अन्तर्गत लिखी गई हैं। इधर उनकी कुछ कहानियाँ स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धों को लेकर सेक्स सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करने के लिए लिखी गई हैं, जो निश्चय ही अनायास चल पड़े नए फैशन की रौ में लिखी गई है। इन कहानियों को पढ़ कर स्पष्ट प्रतीत होता है कि लेखक की रुचि इन कहानियों की ओर ज़रा भी नहीं रही है, और उसका मन इस दिशा में नहीं रमा है। कहना न होगा, इस कोटि की कहानियों में केशव प्रसाद मिश्र को कोई विशेष सफलता नहीं प्राप्त हुई है, और न इनमें वे कोई नई ज़मीन ही तोड़ पाए हैं, इन कहानियों को जिस कन्विंसिंग रूप में प्रस्तुत किया जाना चाहिए था,

केशव प्रसाद मिश्र उसे नही कर पाए हैं। उनके अधिकांश प्रतीक या तो अस्पष्ट रह गए है, या आरोपित से प्रतीत होते है। पर यह सतोष का विषय है कि उन्होने इस कोटि की कहानियाँ अधिक नही लिखी है।

केशव प्रसाद मिश्र की कहानियो की अधिकांश संख्या प्रथम दो वर्गों मे आती है, जिनमे उन्हे अपार सफलता प्राप्त हुई है। नए सामाजिक यथार्थ का उद्घाटन करने, अपने आसपास के परिचित परिवेश को स्वाभाविक एव प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करने तथा सामाजिक जवाबदेही का निर्वाह करने की दृष्टि से इस वर्ग की कहानियाँ अधिक उच्चकोटि की सिद्ध हुई हैं। केशव प्रसाद मिश्र का शिल्प एप्रोच सदैव सादगी का रूप लिए रहता है, और अनावश्यक जटिलता एव दुर्बोधता से दूर सहज एव स्वाभाविक ढग से अपनी बात कहने की कला मे उन्हें कमाल हासिल है। यथार्थ की पकड तो उनकी गहरी है ही, पारिवारिक एव सामाजिक जीवन मे नित्य होने वाले परिवर्तनो, रूढियो के तिरस्कार एव नवीन मूल्यो के प्रवेश को उन्होने अत्यन्त जागरूक, खुली तथा स्वस्थ दृष्टि से देखा तथा परखा है, जो उनकी कहानियो मे पूर्ण लेखकीय सवेदना के साथ उभरा है। इस कोटि की कहानियाँ लिखने वालो मे कदाचित् वे अकेले भारतीय लेखक हैं, जिन्होने निम्न-मध्यवर्गीय जीवन के परिवारों के बहुविधिय पक्षो को इतनी समर्थता एव स्वाभाविकता से प्रस्तुत किया है। मेरा अपना अभिमत है,केशव प्रसाद मिश्र की स्वाभाविक राह यही है। इस पथ से भटक कर जहाँ वे फैंटसी के चक्कर मे पड़े है, वही उनकी कहानियाँ चोरट हुई हैं। फैंटसी एक चमत्कार होते है और चमत्कार जब कहानियो मे आता है, तो उनका भविष्य क्या होता है,यह कहने की आवश्यकता नही रह जाती। यदि वे अपने इसी सामाजिक यथार्थ के सहारे आगे बढ़ते जाएँगे, तो निश्चय ही भविष्य मे वे अधिक श्रेष्ठ भावभूमियो का कलात्मक सृजन कर सकेंगे, इसमे कोई सदेह नही।

× × ×

इस दशक की महिला कहानीकारों में श्रीमती विजय चौहान का नाम सबसे ऊपर आता है। आज के प्रगतिशील कहानीकारों में उनका स्थान अग्रगण्य है। उन्होंने अब तक लगभग पच्चीस कहानियाँ लिखी हैं जिनमें 'एक बुतशिकन का जन्म', 'दामो का आर्टिस्ट', 'वतन', 'शहीद की माँ', 'अफसर की बेटी', 'अमरसिंह, धुन', 'चैनल', 'बाघी मदन देई' तथा 'शरत की नायिका' आदि कहानियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। आज हिन्दी में जितनी भी महिला लेखिकाएँ हैं, श्रीमती विजय चौहान उनमें एकमात्र ऐसी नारी कथाकार हैं, जिनकी दृष्टि में इतनी व्यापकता आई है, और परिवार की सीमाओं को लांघ कर समूचे समाज और युग को उस परिवेश में समेटने की समर्थता उत्पन्न हुई है। दूसरी नारी कथाकारों के लिए केवल पति, परिवार और प्रेम का रोना ही शेष रहा है, और अपनी सारी कला वे उसी में लगाती रहीं। इसके विपरीत श्रीमती विजय चौहान ने युगीन समस्याओं को ही अपनी कहानियों का विशेष रूप से विषय बनाया है, और उन्हें साधिकार ढंग से अत्यन्त कन्विंसिंग रूप में प्रस्तुत किया है, जिसमें उन्हें यथेष्ट सफलता प्राप्त हुई है। 'एक बुतशिकन का जन्म', 'चैनल', 'वतन' तथा 'शहीद की माँ' आदि कहानियाँ इसी व्यापक परिवेश में नवीन आयामों को स्पर्श करने की कहानियाँ हैं।

श्रीमती विजय चौहान के पास अपनी एक सुनिश्चित शैली है, जिसमें कहीं कृत्रिमता दृष्टिगत नहीं होती। उनके शिल्प की सादगी, सीधापन, सहजता तथा रोचकता कुछ ऐसी उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं, जिन्होंने उनके शिल्प को ही नहीं सवारा-निखारा है, वरन् उन्हें अभिव्यक्ति की ऐसी अपूर्व समर्थता प्रदान की है कि उनकी कहानियों की गूँज मन पर स्थायी रूप से छा जाती है, और पाठक उनका गंभीरतापूर्वक नोटिस लेने के लिए बाध्य हो जाता है। श्रीमती विजय चौहान, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, प्रगतिशील कथाकार हैं। वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के प्रति उन्हें घोर असंतोष है। इसमें परिवर्तन वे

बौद्धीक समझती है। पर इसके लिए उन्होंने अपनी कहानियों में मॉडल प्रोविजन नहीं की है, और न किसी यूटोपिया का निर्माण करते हुए अव्यावहारिक आदर्शवाद की स्थापना ही की है। इसके विपरीत उन्होंने इन सामाजिक विकृतियों एव ज्वलन्त समस्याओं की गहराई में पैठने और उनके मूल कारणों को खोज निकालने का प्रयत्न किया है। इन मूल कारणों के स्पष्टीकरण ने ही उनकी कहानियों को तमाम सादगी और अकृत्रिमता के बावजूद वह गहराई प्रदान की है, जो आज के कम ही कहानीकारों की रचनाओं में दृष्टिगत होती है। उनकी कहानियाँ एक व्यापक परिवेश का यथार्थ निर्माण करती हैं, और आज के पारिवारिक, सामाजिक एव राजनीतिक जीवन के बहुविधिय पक्षों का उद्घाटन करती हैं। सृजन की इस प्रक्रिया में उनकी आस्था का स्वर कहीं खण्डित नहीं हुआ है, वरन् नवीन मूल्यान्वेषण, प्रगतिशील मानदण्डों तथा नवीन प्रगतिशीलता के उपयोगी एव व्यावहारिक रेशों की खोज कर उनकी उचित स्थापनाएं उनके विश्वास एव स्वस्थ तथा दूरदर्शी दृष्टि की गहनता का परिचय देती हैं। सबसे बड़ी कलात्मक बात तो यह है कि अपनी विचारधारा आस्था एव प्रगतिशीलता को उन्हें कहानियों पर आरोपित करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। ये सभी कहानी की आत्मा बन कर ही उभरते हैं। उनकी कोई कहानी पढ़ लीजिए, वर्तमान सामाजिक एव राजनीतिक व्यवस्था, भ्रष्टाचार, रूढ़ियों, स्वार्थ, बूर्जुआ मनोवृत्ति एव वर्ग-वैषम्य के प्रति लेखिका का एक शब्द भी नहीं मिलेगा, फिर भी अपूर्व शिल्प-सौष्ठव से उनके कथानकों के रेशे इस प्रकार सगुम्फित किए गए हैं कि वे इन सब के प्रति आपके मन में तीव्र असंतोष ही नहीं भर देंगे, उन विकृतियों के प्रति सजग करते हुए उनके प्रति विद्रोह करने एव समूल नष्ट करने के लिए दिशोन्मुख होने पर मजबूर कर देंगी। मैं समझता हूँ, उनकी कहानियों की यह जबर्दस्त सफलता है।

श्रीमती विजय चौहान की पात्र-योजना पर भी दो शब्द कह देना अपेक्षित होगा। उन्होंने अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि पाई है, और

क्ति की सक्षमता से वे पूर्ण हैं । उन्होंने अपने पात्रों को समाज के
ग्गों से लिया है, और उनका यथार्थ अंकन किया है । ये पात्र
की अपनी बनावट नहीं हैं, वरन् समाज की उपज हैं, जिन्हें
कुशलता से प्रस्तुत किया गया है । वे हमारे निकट के जाने
इसीलिए लगते हैं, क्योंकि उनकी अपनी स्वाभाविक गति है
जता है, जिसे लेखिका ने कहीं नियंत्रित करने का प्रयत्न नहीं
। उन्होंने समाजवादी यथार्थवाद (Socialist realism) की
पर बल देते हुए इन पात्रों को इस रूप से प्रस्तुत किया है कि
मिल कर हमारे सामने आज के युग की विषमताओं एवं विशेष-
व्यापक किन्तु सतुलित चित्र उपस्थित करते हैं । उनके अतल
का सामंजस्य स्थापित करने में श्रीमती विजय चौहान को
लता प्राप्त हुई है । उनकी कहानियाँ एक अभिनव दिशा का
। उनका विशेष महत्व इसलिए भी है कि वे एक महिला कथा-
कलम से लिखी गई हैं ।

प्रियंवदा ने पारिवारिक जीवन को लेकर कुछ अच्छी कहा-
खी हैं । उनकी कहानियों का एक संग्रह 'जिन्दगी और गुलाब
प्रकाशित हुआ है । उनकी कुछ प्रमुख कहानियाँ 'वापसी',
ौर उत्तर', 'मछलियाँ', 'चाँदनी में बर्फ पर', 'जिन्दगी और
फूल', 'पचपन खम्भे लाल दीवालें', 'एक और विदाई',
ह दूसरे के लिए' आदि हैं । इधर वे अपने शोध-कार्य के
में विदेश गई हुई हैं । उनके इस विदेश प्रवास ने उनकी
पर अपना विशिष्ट प्रभाव डाला है, जिसका रंग इतना गहरा

हो गया है कि इसके सन्दर्भ में उनकी कहानियों के दो वर्ग ही बनाए जा सकते हैं। एक वर्ग उनकी विदेश प्रवास पूर्व की कहानियों का है और दूसरा उसके बाद की कहानियों का। उनके कथानक, पात्र, परिस्थितियाँ उनके सीमित जीवन व अनुभवों को प्रस्तुत करते हैं। जो कुछ उन्होंने देखा है, उसी को चित्रित करने का साहस है, कदाचित् इसीलिए उनकी कहानियों में नारी पात्रों की भीड़ है और उनकी छोटी-छोटी समस्याओं, उनका अन्तर्द्वन्द्व बदलती हुई परिस्थितियों में अपने को पाने का विस्मय, इन सबका प्राचुर्य है। उन्होंने स्वीकारा है, मेरे चारों ओर जो घट रहा है, वही सहज भाव से कहानी की पृष्ठभूमि बन जाता है।

'जिन्दगी और गुलाब के फूल' कहानी संग्रह की अधिकांश कहानियाँ सफल एवं मार्मिक हैं। उनका विषय प्रेम और परिवार से ही प्रमुख रूप से है, जिन्हें नारी कथा लेखिका की स्वाभाविक सहानुभूति प्राप्त हुई है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों, प्रेम के विविध पक्षों एवं परिवार की परिवर्तित व्यवस्था को लेकर जो कहानियाँ उन्होंने लिखी हैं, उनमें विषय की मार्मिक व्यंजना करने तथा अभिव्यक्ति को यथार्थता प्रदान करने में उषा प्रियंवदा को विशेष सफलता प्राप्त हुई है। इन कहानियों का अपना अलग रंग है, जो इस बात का स्पष्ट संकेत करती हैं कि इन विषयों से सम्बन्धित यथार्थ की पकड़ लेखिका को कितनी गहरी है। प्रेम और परिवार के सूक्ष्म से सूक्ष्म डिटेल्स, आधुनिक परिवारों के मनोविज्ञान के समस्त रेशों और प्रेम सम्बन्धी परिवर्तित मूल्यों की व्याख्या बड़े सहज एवं स्वाभाविक ढंग से इन कहानियों में मिलती है। इस सम्बन्ध में उनकी विशेष उल्लेखनीय कहानी 'वापसी' है, जो आज के परिवर्तित पारिवारिक जीवन एवं विशृंखलता का अत्यन्त यथार्थ पर मार्मिक चित्रण प्रस्तुत करती है।

किन्तु विदेश जाने के बाद उषा प्रियंवदा की कहानियों में अनायास ही एक अंतराल-सा दृष्टिगोचर होता है। उसके बाद की उनकी जो

थोड़ी-बहुत कहानियाँ पढ़ने को मिली हैं, उनमें उन्होंने विदेशी एवं भारतीय वातावरण का विचित्र रहस्यमय सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है तथा झूठे एवं आरोपित प्रतीकों का सहारा लेकर अनेक असफल एवं प्रभावशून्य कहानियाँ लिखी हैं। इन कहानियों का स्तर इस प्रकार का है कि सहसा विश्वास ही नहीं होता कि 'जिन्दगी और गुलाब के फूल' की लेखिका की ही ये सारी कहानियाँ भी हैं। इन कहानियों में सायास नवीनता लाने की चेष्टा की गई है और आधुनिक सचेतना के नाम पर जिस तथाकथित आधुनिकता का वर्णन किया गया है, उसकी स्थानीयता का कहीं अहसास भी नहीं होता, इसीलिए वे कहानियाँ अपने आप में एक अजूबा बन कर रह गई हैं। हालाँकि इसकी सफाई प्रस्तुत करते हुए उन्होंने लिखा है, भारत में रहकर अनेक व्यक्ति विदेशों की एक अत्यन्त सम्मोहक, जादूभरी नगरों की तरह कल्पना करते हैं। संवेदनशील व्यक्तियों को एक नया देश, भिन्न सभ्यता तथा मान्यताएँ किस प्रकार प्रभावित करती हैं, भारतीय छात्रों या निवासियों में किस संघर्ष, द्वन्द्व की सृष्टि करती हैं, इधर की कहानियों में मेरा ध्यान इधर ही रहा है।

'मैं हार गई' और 'तीन निगाहों की एक तस्वीर' कहानी संग्रहों की लेखिका मन्नू भण्डारी की प्रमुख कहानियों में 'ईसा के घर इन्सान', 'एक कमजोर लड़की की कहानी', 'अभिनेता', 'तीसरा आदमी', 'कील ...र कसक', 'दीवार बच्चे और बरसात', 'आकाश के आइने में', 'तया ...चाई' आदि की गणना की जाती है। इनकी कहानियों में आज की ...ी का अध्ययन अत्यन्त यथार्थ रूप से हुआ है। नारी की विभिन्न

सम्भ्याओं प्रमुखतः प्रेम और परिवार की समस्या को मन्नू भण्डारी ने बड़ी गहराई से परखा है, और उसके विविध पक्षों को सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया है। संतोष की बात यह है कि इस प्रस्तुतीकरण में, उनके पति राजेन्द्र यादव का उन पर प्रभाव नहीं पड़ा है, और उनकी किसी कहानी में शिल्प-प्रयोग का मोह अथवा जटिल एवं सश्लिष्ट प्रतीकों के प्रति आग्रह लक्षित नहीं होता। मन्नू भण्डारी की कहानियों में शिल्प की सफाई और सादगी तो है ही, साथ ही अभिव्यक्ति का उनका अपना एक अलग विशिष्ट एवं प्रभावशाली ढंग है। यह बात जरूर है कि उनकी कहानियों में प्रत्येक पात्रों के साथ सहानुभूति और भावुकता परिलक्षित होती है, जो नारी-सुलभ विशेषता है। इसके लिए मन्नू भण्डारी को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। मन्नू की कहानियों में व्यष्टि चिंतन अधिक स्पष्ट हुआ है, पर उनमें विराटता है और व्यापक सामाजिक सन्दर्भों के साथ सम्बद्ध होने की दिशा है।

मन्नू भण्डारी की कहानियों के पात्रों की एक प्रमुख विशेषता यह कि कि हर दम किसी न किसी एक्शन में लगे रहते हैं। कोई मुँह में चम्मच से रसगुल्ला डालते हुए कोई बात कहेगा, कोई टाई ठीक करते हुए। कोई मेज पर मुक्का मार कर कोई बात कहेगा, तो कोई साड़ी के पल्लू से पसीना पोंछते हुए। कहीं-कहीं तो ये एक्शन बड़े ही 'प्रभावशाली' लगते हैं, और पात्रों की विभिन्न मन स्थितियों का दिग्दर्शन कराने में सफल होते हैं, पर अधिकांश रूप में एक्शनों का वर्णन आवश्यकता से अधिक ही हो जाता है, जो कुछ के बाद बोरिंग-सा लगने लगता है। हालांकि मन्नू भण्डारी की कहानियों में आकर्षक प्रवाह रहता है, और पाठकों को अपील करने के लिए उनमें यथेष्ट सामग्री रहती है। नारी मनोविज्ञान को स्वानुभूति के रूप में ढाल कर पूर्ण हार्दिक सवेदनशीलता एवं मार्मिकता के साथ मन्नू भण्डारी ने अपनी कहानियों में कुछ इस तरह प्रस्तुत किया है कि वे बड़ी अपीलिंग लगती हैं। आज की नारी परिवर्तित सामाजिक एवं पारिवारिक सन्दर्भों में फिट है या

मिसफिट, उसकी वास्तविक स्थिति क्या है, तथा नवोन्मेष एवं आधुनिक सचेतना मे उसकी गति क्या है, मन्नू भण्डारी की कहानियाँ इसे सशक्त रूप में अभिव्यक्त करती हैं।

आज की कहानी की चर्चा करते समय शशिप्रभा शास्त्री की कहानियों की चर्चा न करना बड़ा बेमानी सा लगता है। इस दशक की महिला लेखिकाओं में उनका स्थान कम महत्वपूर्ण नहीं है। उनके साथ यदि कोई दुर्भाग्य है तो यही कि उनके पास कोई पब्लिसिटी इन्टेलिजेन्सिया नहीं है, जो आज के दूसरे कहानीकारों की भाँति शालडा के प्रचार के निमित्त किए जाने वाली विज्ञापनबाजी को भी मात कर उनके नाम को आगे बढ़ा दे। पर सृजनशीलता की गुरुता कदाचित् सूरज की उस रोशनी की भाँति है जिसे मुट्ठी मे बन्द नहीं किया जा सकता, और न अनुशासित ही किया जा सकता है। पिछले कई वर्षों से शशिप्रभा शास्त्री गम्भीरतापूर्वक कहानी के क्षेत्र मे काम कर रही हैं, और इस बीच उन्होने कई महत्वपूर्ण कहानियाँ लिखी हैं। विशेष रूप से मैं 'गहराइयो मे गूँजते प्रश्न', 'स्टैंडर्ड', 'दो कोणों वाला एक बिन्दु' तथा 'घाटे की लकीरें' कहानियों का उल्लेख करना चाहूँगा। कहा जा सकता है कि उनकी लगभग सौ कहानियो में से यही तीन कहानियाँ क्यो चुनी गई उत्तर स्वय ये कहानियाँ ही हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि अन्य कहानियाँ इनसे हल्की हैं ; या उल्लेख योग्य नहीं हैं। सच ो यह है कि शशिप्रभा शास्त्री की कहानियाँ नारी जीवन की न गति एव यथार्थता को एक व्यापक परिवेश मे नवीन सन्दर्भो रिप्रेक्ष्य मे बड़ी सफलता के साथ उपस्थित करती हैं।

शशिप्रभा शास्त्री की कहानियो मे शिल्प की सादगी एवं सफाई विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनकी कम ही कहानियाँ ऐसी हैं, जिनमें झूठे सत्यों का आरोपित प्रतीको का सहारा लिया गया है। इन कहानियो मे कथ्य और कथन की नवीनता बराबर लक्षित होती है, और वे हर लिहाज से 'नई' कहानियो के अन्तर्गत आती हैं। शशिप्रभा शास्त्री को नारी मनोविज्ञान एव नारी जीवन की समस्याओ का गहरा अध्ययन है। अपनी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से उन्होने छोटे-से-छोटे डिटेल्स की जाच बड़ी सतर्कता से की है, और जो नतीजे उन्होने निकाले हैं, उन्ही पर उनकी अधिकाश कहानियो का ताना-बाना बुना गया है। नवीन मूल्यान्वेषण, रूढ़ियो का तिरस्कार एव परम्पराओ की नवीन सन्दर्भो मे पुन जाच उनकी कहानियो का मूल स्वर है। प्रतिक्रियावादी तत्वो एव सामाजिक विकृतियो तथा जिन्दगी की गलाजत पर तीखे व्यग्य कस जीवन के सौन्दर्य पक्ष के साथ उन्होने बड़ा ही सतुलित रूप उपस्थित किया है। इन कहानियो की सोद्देश्यता एव सामाजिकता विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

शैलेश मटियानी मूलत आंचलिक कहानीकार है। उनकी कहानियो का एक सग्रह 'मेरी तैंतीस कहानियां' के नाम से प्रकाशित हुआ है। उनकी उल्लेखनीय कहानियो मे 'एक मोटा [illegible]', 'दो दुखो का एक सुख', 'सुहागिन', 'बढ़ती हुई खाई', 'माता', 'रुका हुआ रास्ता', 'भस्मासुर', तथा 'पोस्टमैन' आदि है। इधर वे कहानियाँ खूब लिख रहे है, और प्रत्येक माह विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ मे कम-से-कम दो कहानियाँ देखने को तो मिल ही जाती है। शैलेश मे प्रतिभा की कमी

नहीं है। अल्मोड़ा के पहाड़ी जीवन, लोक-कथाओं एवं पहाड़ी लोगों के आचार-व्यवहार तथा प्रकृति से उनका निकट का सम्बन्ध रहा है। इन सबको उन्होंने आंचलिक परिवेश में अपनी कहानियों में बड़ी सफ-लता एवं यथार्थता से प्रस्तुत किया है। रेणु की ही भांति शैलेश की कहानियों में भी यह आंचलिकता आरोपित नहीं है, वरन् वह कहानी की आत्मा बनकर ही उभरती है, इसीलिए इतने [illegible] ढंग से पाठकों को प्रभावित कर लेती है। शैलेश उन इने-गिने दो-एक आंच-लिक कहानीकारों में हैं, जिन्होंने लोक-जीवन का निकट से अनुभव ही नहीं किया है, वरन् स्वयं उसे भोगा भी है। जिन्दगी की गलाजत को भी उन्होंने पीया है, और निर्धनता के अभिशाप को अग्नि-परीक्षा के समान सहा है। इन तथ्यों ने उनकी कहानियों को एक दूसरा ही विशिष्ट रंग दिया है, और प्रत्येक कहानी केवल इसीलिए प्रभावशाली लगती है क्योंकि वह लेखक की अपनी स्वानुभूति की भांति सहजता एवं स्वाभाविकता के साथ प्रस्तुत की जाती है।

शैलेश की कहानियों में स्थानीय रंगों का प्रचुर मात्रा में उपयोग हुआ है। उन्होंने दूसरे आंचलिक कहानीकारों की भांति अपनी कहा-नियों को सजे-सजाये ड्राइंग रूम में बैठे किसी कल्पनाशील असम्भाव्य कथानक को लेकर अंदाज के सहारे आंचलिक आवरण में लपेटने का प्रयत्न नहीं किया है। और न उनकी भांति बिना स्वयं देखे या अनुभव किए सत्य को लिखने का साहस ही किया है। यही कारण है कि उनकी कहानियों में झूठे एवं आरोपित प्रतीकों एवं अविश्वसनीय सत्यों का सहारा नहीं लिया गया है। निम्नवर्गीय लोगों को लेकर शैलेश ने जो कहानियाँ लिखी हैं, वे उनकी गहरी सूझ-बूझ और यथार्थ को पहचानने एवं सत्य ढंग से चित्रित करने की समर्थता का परिचय देती हैं। जीवन के यथार्थ से पात्रों को चुनकर उन्हें कहानियों में प्रस्तुत करना, उनके मनोविज्ञान एवं अनुभूतियों की मार्मिक व्याख्यायें करना तथा आसपास के परिचित-परिवेश को अधिक गहरी दृष्टि से शैलेश ने उचित संगति

[illegible] कहानियों को देखकर [illegible] है। [illegible] कि [illegible] है पर [illegible] [illegible] है। [illegible]

भीष्म साहनी प्रगतिशील लेखकों में हैं और सामाजिक संवेदना को चित्रित करने में वे अधिक सफल रहे हैं। उनकी कहानियों के दो संग्रह 'भाग्य रेखा' और 'पहला पाठ' प्रकाशित हुए हैं। वर्ग-वैषम्य, आर्थिक विषमता एवं [illegible] उत्पन्न पारिवारिक अन्तर्विरोध एवं कटुता उनकी कहानियों के मूल स्वर हैं जिनमें जीवन के प्रति अटूट निष्ठा एवं संघर्ष का जिन्दादिल हास की आस्था और मनुष्य का स्वर उद्घोषित होता है। यथार्थपरक सामाजिक परिवेश में मनुष्य के पूर्ण व्यक्तित्व को उभारने की चेष्टा, नवीन प्रगतिशील मूल्यों को उभारने एवं विघटनकारी तथा प्रतिक्रियावादी तत्वों का स्पष्ट रूप की सजगता के कारण भीष्म साहनी की कहानियों में आज के नए यथार्थ के विभिन्न रूप बड़े प्रभावशाली ढंग से चित्रित हुए हैं। उनके यथार्थ का स्वरूप समाजवादी है, पर वह सिद्धान्तवादिता अथवा पक्षधरता के बजाय सीधे व्यंग्य एवं मार्मिकता में ही उभरता है, जिसमें अधिक विराटता एवं व्यापक सामाजिक सन्दर्भों को सहारा देने का बोध है। 'चीफ की दावत', 'सिर का सदका', 'सफ़र' आदि कहानियाँ उस उन्मेष की कहानियाँ हैं, जिनमें

आज सब कुछ कहा जा रहा है और अच्छे-बुरे का बोध कराने वाली क्षमता नष्ट हो चुकी है।

हरिशंकर परसाई एकमात्र व्यंग्य कहानीकार हैं, जिन्होंने बड़ी सफलता से हमारी आज की विषमताओं, अन्तर्विरोध, राजनीतिक-सामाजिक विकृतियों एवं मन स्थितियों पर तीखे एवं सार्थक व्यंग्य कसे हैं और उन्हें बड़ी मार्मिकता से उभारा है। उनका व्यंग्य हास्य उत्पन्न करने के लिए अथवा मनोरंजन करने के लिए नहीं है, वरन् कथ्य को और भी प्रभावशाली एवं गहराई प्रदान करने के लिए है। उनकी पैनी दृष्टि ने स्थूल जीवन के यथार्थ से भी ऐसी स्थितियों को चुना है, जिन्हें उन्होंने अपनी स्वस्थ सामाजिक दृष्टि एवं सजगता से प्रस्तुत करने में सफलता प्राप्त की है।

व्यंग्य कहानीकारों में केशवचन्द्र वर्मा और शान्ति मेहरोत्रा की भी अनेक कहानियाँ ली जा सकती हैं, जो हर लिहाज से सफल कहानियाँ हैं। इनके अतिरिक्त रामकुमार, शिवानी शेखर जोशी, शानी, शरद जोशी आदि ऐसे अनेक कहानीकार हैं, जिन्होंने इस दशक में ख्याति प्राप्त की है और अनेक अच्छी कहानियाँ लिखी हैं, जिनमें नए पन के अतिरिक्त इन लेखकों की दृष्टि, मूल्यों को पहचानने और मर्यादित प्रतिष्ठा देने की क्षमता तथा नए यथार्थ को उभारने की समर्थता का

संघर्ष एवं सम्भावनाएँ

आधुनिक दशक का स्वरूप अभी पूर्णतया स्पष्ट नहीं हो पाया है,
अनेक लेखक बड़ी तेजी से उभर रहे हैं और अपनी गति निश्चित
ने में सजगता से आगे बढ़ रहे हैं। अपनी पीढ़ी के सम्बन्ध में कुछ
ना,पूर्वाग्रहों से प्रभावित ही समझा जाता है, फिर भी मुझे यह
हने में कोई सकोच नहीं है कि पिछले दशक और इस दशक के बीच
भाजक रेखा बड़ी सरलता से खीची जा सकती है, जिसमे मेरी पीढ़ी
ा स्वरूप निश्चित करने में बहुत कठिनाई नहीं होनी चाहिए। इस
शक के सभी नए कहानीकारो ने प्रयासहीन शिल्प का महत्वपूर्ण
ादर्श स्थापित किया है। लादी गई सांकेतिकता, अमूर्त प्रतीक विधान,
स्पष्टता एव दुर्बोधता के स्थान पर अब फॉर्म की सादगी, स्पष्टता और
ार्थकता प्रदान करने के प्रति अधिक आग्रह है। पिछले दशक में
ाजेन्द्र यादव जैसे लेखको के सामने समस्या थी कि जीवन से वे क्या
लें और क्या न लें, इसीलिए कई कहानीकारो की रचनाओ के अनाव-
श्यक विस्तार एव वस्तु की विशृंखलता को जस्टीफाइड किया गया
ा, किन्तु इसके ठीक विपरीत अब मेरी पीढ़ी में जहाँ तक मैं समझता

हैं, किसी के सामने यह समस्या नहीं है कि वह जीवन से क्या ले और क्या न ले। हर किसी की दृष्टि साफ और स्वच्छ ही नहीं है, वरन् सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते हुए उद्देश्य बिन्दु को पहचानने और प्रत्यक्ष हित करने की क्षमता से भी पूरित है। यही कारण है कि उनमें कथनशक्ति की सूक्ष्मता एवं सार्थकता दोनों ही श्रेष्ठ ढंग से आई है, जिसके फलस्वरूप कहानी का आकार छोटा हुआ है और उसमें अधिक सहजता एवं प्रेषणीयता लाने का कार्य इन सभी ने उल्लेखनीय ढंग से सम्पन्न किया है।

अब नई कहानी, कहानी अधिक है, डाकुमेंट कम, इसीलिए वह प्रेमचन्द की परम्परा (कफन, मनोवृत्ति, बड़े भाई साहब, नशा आदि कहानियों से सम्बद्ध) के अधिक निकट जा रही है। यह बात पिछले दशक में भी 'हरिनाकुश का बेटा', 'मलबे का मालिक', 'वह मर्द थी', 'सुबह का सपना', 'जहाँ लक्ष्मी कैद है', 'दोपहर का भोजन', 'हंसा जाई अकेला', 'बदबू', 'चीफ की दावत', 'तीसरी कसम' तथा 'गुलाब के फूल और काँटे'[१] आदि कहानियों से शुरू हुई थी और उसकी अंतिम परिणति 'जख्म', 'एक इतिश्री', 'अन्तर', 'जो लिखा नहीं जाता', 'लाट', 'एक कटी हुई कहानी', 'माही', 'टेबुल' तथा 'मछलियाँ'[२] आदि कहानियों के साथ होता है। इसके विपरीत इस दशक की कुछ प्रमुख कहानियाँ 'बड़े शहर का आदमी' (रवीन्द्र कालिया), 'शेष होते हुए' (ज्ञानरंजन), 'एक पति के नोट्स' (महेन्द्र भल्ला), 'नए पुराने जूतों का साथी' (धर्मेन्द्र गुप्त), 'मानवता की ओर' (जगदीश चतुर्वेदी), 'डाब'

१. इन कहानियों के लेखक क्रमशः धर्मवीर भारती, मोहन राकेश, नरेश मेहता, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, अमरकांत, मार्कण्डेय, शेखर जोशी, भीष्म साहनी, रेणु तथा उषा प्रियंवदा हैं।

२. इन कहानियों के लेखक क्रमशः मोहन राकेश, नरेश मेहता, निर्मल वर्मा, कमलेश्वर, अमरकांत, राजेन्द्र यादव, मार्कण्डेय, रेणु तथा उषा प्रियंवदा हैं।

(रामनारायण शुक्ल), 'सायो की नदी' (योगेश गुप्त), 'छिटकी हुई ज़िन्दगी' (ममता अग्रवाल), 'अपने शहर की उदासियाँ (बलराज पंडित), 'अलस बाहों की दोपहर' (श्याम परमार), 'मंज़िल की खोज' (राजेन्द्र जगोत्ता), 'धब्बे' (से० रा० यात्री), 'चरागाहों के बाद' (अनीता ओलक) 'दूध और मक्खियाँ' (अनन्त) आदि कहानियाँ एक नई यात्रा की शुरुआत करती हैं। ये सभी लेखक नए हैं और शिल्प तथा एप्रोच में अपरिपक्वता की सम्भावनाएँ भी है, पर प्रश्न दृष्टि का है। जहाँ पिछले दशक में कुछ एक कहानीकारों की घोर-आत्मपरकतावादी फैशन से सम्प्रस्त होकर अन्तिम चरण में नई कहानी प्रतिक्रियावादी तत्वों की कहानी बन गई थी, वहीं इन नए कहानीकारों का संघर्ष उस कृत्रिम आत्मपरक एवं प्रतिक्रियावादी मुखौटे को दूर कर पुन: यथार्थ-परक सामाजिक सन्दर्भों में मनुष्य के सम्पूर्णता की खोज और प्रगतिशील मानदण्डों की स्थापना के प्रति है, जिसने पुनः नई कहानी को अभिनव दिशा दी है।

यह विभाजन पीढ़ियों के सन्दर्भ में नहीं देखना चाहिए, वरन् एक चरण के रूप में ही मूल्यांकित करना चाहिए। यहाँ जिन लेखकों की चर्चा की गई है, उस सम्बन्ध में यह धारणा नहीं होनी चाहिए कि इनके अतिरिक्त दूसरे लेखक महत्व नहीं रखते हैं या उनकी सृजनशीलता कोई स्तर नहीं रखती है। इनमें से अधिकांश के कहानी-संग्रह अभी प्रकाशित नहीं हुए हैं, इनकी कहानियाँ इधर-उधर पत्र-पत्रिकाओं में खोजने में थोड़ी कठिनाई तो है ही, इसीलिए हो सकता है कि कई लेखकों की चर्चा न हो पाई है। सत्य स्थिति तो यह है कि इस पीढ़ी में अनेकों लेखक दिशा पाने के लिए संघर्षशील हैं और उनमें बड़ी सम्भावनाएँ हैं। इनमें कितने सस्टेन करेंगे, उनकी सृजनशीलता की वास्तविक गति क्या होगी, इस सम्बन्ध में अभी निश्चित रूप से कुछ कहना बहुत उचित नहीं होगा, विशेष रूप से मेरे लिए तो और भी है, क्योंकि स्वयं इसी पीढ़ी का होने के कारण अपने समकालीनों पर कुछ

है, किसी के सामने यह समस्या नहीं है कि वह जीवन से क्या ले और क्या न ले। हर किसी की दृष्टि साफ और स्वच्छ ही नहीं है, वरन् सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते हुए उद्देश्य बिन्दु को पहचानने और प्रत्यक्ष हित करने की क्षमता से भी पूरित है। यही कारण है कि उनमें कथनशक्ति की सूक्ष्मता एवं सार्थकता दोनों ही श्रेष्ठ ढंग से आई है, जिसके फल-स्वरूप कहानी का आकार छोटा हुआ है और उसमें अधिक सहजता एवं प्रेषणीयता लाने का कार्य इन सभी ने उल्लेखनीय ढंग से सम्पन्न किया है।

अब नई कहानी, कहानी अधिक है, डाकुमेंट कम, इसीलिए वह प्रेमचन्द की परम्परा (कफन, मनोवृत्ति, बड़े भाई साहब, नशा आदि कहानियों से सम्बद्ध) के अधिक निकट आ रही है। यह बात पिछले दशक में भी 'हरिनाकुश का बेटा', 'मलबे का मालिक', 'वह मर्द थी', 'सुबह का सपना', 'जहाँ लक्ष्मी कैद है', 'दोपहर का भोजन', 'हंसा जाई अकेला', 'बदबू', 'चीफ की दावत', 'तीसरी कसम' तथा 'गुलाब के फूल और काँटे'[1] आदि कहानियों से शुरू हुई थी और उसकी अंतिम परिणति 'जख्म', 'एक दुनिया', 'अन्तर', 'जो लिखा नहीं जाता', 'लाट', 'एक कटी हुई कहानी', 'माही', 'टेबुल' तथा 'मछलियाँ'[2] आदि कहानियों के साथ होता है। इसके विपरीत इस दशक की कुछ प्रमुख कहानियाँ 'बड़े शहर का आदमी' (रवीन्द्र कालिया), 'शेष होते हुए' (ज्ञानरजन), 'एक पति के नोट्स' (महेन्द्र भल्ला), 'नए पुराने सूतों का साथी' (धर्मेन्द्र गुप्त), 'मानवता की ओर' (जगदीश चतुर्वेदी), 'डाब'

---

१. इन कहानियों के लेखक क्रमश धर्मवीर भारती, मोहन राकेश, नरेश मेहता, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, अमरकांत, मार्कण्डेय, शेखर जोशी, भीष्म साहनी, रेणु तथा उषा प्रियंवदा हैं।

२. इन कहानियों के लेखक क्रमश मोहन राकेश, नरेश मेहता, निर्मल वर्मा, कमलेश्वर, अमरकांत, राजेन्द्र यादव, मार्कण्डेय, रेणु तथा उषा प्रियंवदा हैं।

(रामनारायण शुक्ल), 'सायों की नदी' (योगेश गुप्त), 'छिटकी हुई जिन्दगी' (ममता अग्रवाल), 'अपने शहर की उदासियाँ (बलराज पंडित), 'अलस बाहों की दोपहर' (श्याम परमार), 'मंजिल का बोझ' (राजेन्द्र जगोत्ता), 'घब्बे' (से० रा० यात्री), 'चरागाहों के बाद' (अनीता औलक) 'दूध और मक्खियाँ' (अनन्त) आदि कहानियाँ एक नई यात्रा की शुरुआत करती है। ये सभी लेखक नए हैं और शिल्प तथा एप्रोच में अपरिपक्वता की सम्भावनाएँ भी हैं, पर प्रश्न दृष्टि का है। जहाँ पिछले दशक में कुछ एक कहानीकारों की घोर-आत्मपरकतावादी फैशन से संत्रस्त होकर अन्तिम चरण में नई कहानी प्रतिक्रियावादी तत्वों की कहानी बन गई थी, वहीं इन नए कहानीकारों का संघर्ष उस कृत्रिम आत्मपरक एवं प्रतिक्रियावादी मुखौटे को दूर कर पुनः यथार्थ-परक सामाजिक सन्दर्भों में मनुष्य के सम्पूर्णता की खोज और प्रगतिशील मानदण्डों की स्थापना के प्रति है, जिसने पुनः नई कहानी को अभिनव दिशा दी है।

यह विभाजन पीढ़ियों के सन्दर्भ में नहीं देखना चाहिए, वरन् एक चरण के रूप में ही मूल्यांकित करना चाहिए। यहाँ जिन लेखकों की चर्चा की गई है, उस सम्बन्ध में यह धारणा नहीं होनी चाहिए कि इनके अतिरिक्त दूसरे लेखक महत्व नहीं रखते हैं या उनकी सृजनशीलता कोई स्तर नहीं रखती है। इनमें से अधिकांश के कहानी-संग्रह अभी प्रकाशित नहीं हुए हैं, इनकी कहानियाँ इधर-उधर पत्र-पत्रिकाओं में खोजने में थोड़ी कठिनाई तो है ही, इसीलिए हो सकता है कि कई लेखकों की चर्चा न हो पाई है। सत्य स्थिति तो यह है कि इस पीढ़ी में अनेकों लेखक दिशा पाने के लिए संघर्षशील हैं और उनमें बड़ी सम्भावनाएँ हैं। इनमें कितने सस्टेन करेंगे, उनकी सृजनशीलता की वास्तविक गति क्या होगी, इस सम्बन्ध में अभी निश्चित रूप से कुछ कहना बहुत उचित नहीं होगा, विशेष रूप से मेरे लिए तो और भी है, क्योंकि स्वयं इसी पीढ़ी का होने के कारण अपने समकालीनों पर कुछ

वना में उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। उनमें व्यष्टि चिन्तन एवं व्यष्टि सत्य मिलता तो है, पर वह उन्हें घोर-आत्मपरकता इसीलिए नहीं प्रदान करता कि वे समाज से कटा हुआ अपने को नहीं पाते। राजेन्द्र यादव की भाँति प्रगतिशीलता का दावा श्रीकान्त नहीं करते, वरन् वे व्यक्ति को 'पूरे' में जीवने और फलस्वरूप प्राप्त परिणामों को नए यथार्थ के धरातल पर प्रस्तुत करने की चेष्टा करते हैं। श्रीकान्त शिल्प की दृष्टि से समर्थ कहानीकार हैं। कवि होने के कारण स्वभावतः चित्रात्मक भाषा में दृश्य उपस्थित करने की इनमें समर्थता तो है ही, साथ ही सांकेतिकता एवं सूक्ष्मता के कारण प्रभाव उत्पन्न करने की भी प्रवृत्ति इनमें अधिक है।

ज्ञानरंजन ने कम लिखा है, किन्तु अच्छा लिखने की ही चेष्टा की है। 'बुद्धिजीवी', 'अमरूद का पेड़', 'यादें और यादें', 'मनहूस बंगला', 'दिवास्वप्नी', 'खलनायिका' और 'बारूद के फूल', 'शेष होते हुए', तथा 'फेंस के इधर और उधर', 'सीमाएँ' तथा 'पिता' उनकी प्रमुख कहानियाँ हैं। ये कहानियाँ जीवन के अनेकानेक पक्षों को बड़ी यथार्थता से प्रस्तुत करती हैं। ज्ञानरंजन के पास सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे जो कुछ भी लिखते हैं, अपनी दृष्टि से और स्वानुभूति के स्तर पर सा।र। अपरिचित सत्यों को कल्पनाशील ढंग से लिख कर दायित्वहीनता का परिचय देना उन्हें स्वीकार नहीं। इसका एक उदाहरण अभी हाल के 'धर्मयुग' में प्रकाशित उनकी कहानी 'शेष होते हुए' है। परिवार में व्यक्ति आज किस प्रकार अजनबी बन जाता है, और अकेलेपन में घुटा-घुटा जीवन जीता है, इस सत्य को ज्ञानरंजन ने बड़ी बारीकी और

मुख्य अन्तर्दृष्टि से उभारा है। कुछ इसी प्रकार के सत्य को लेकर राजेन्द्र यादव ने 'कथादशक' के अन्तर्गत 'धर्मयुग' में ही प्रकाशित अपनी 'एक कटी हुई कहानी' (1) लिखी है। ज्ञानरंजन की कहानी अधिक तीखी और प्रभावशाली प्रतिक्रिया मन पर इसीलिए छोड़ जाती है, क्योंकि वह स्वानुभूति के स्तर पर लाकर चित्रित किया गया है। उनकी कहानी में इसीलिए इतनी स्वाभाविकता और मन को छू लेने की सामर्थ्य है। इसके विपरीत राजेन्द्र यादव जो पिछले पन्द्रह वर्षों से भी अधिक समय से लिख रहे हैं, की कहानी में यह सत्य आरोपित है और कहानी की आत्मा बन कर नहीं उभरता। इसीलिए यह पाठकों को कन्विन्स भी नहीं कर पाती। यहाँ तक कि लेखक को अन्तिम से पूर्व पैरे में एक पात्र के मुख से अच्छा खासा वक्तव्य भी देना पड़ता है, जो बड़ा कृत्रिम और अयथार्थ प्रतीत होता है।

ज्ञानरंजन की यही कहानी नहीं, अधिकांश कहानियाँ इसी ढंग की हैं, जिनमें लेखक को अपनी ओर से कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं पड़ती। उनका सत्य कहानियों के माध्यम से स्वयमेव ही अभिव्यक्त होता है। इस दृष्टि से उनका शिल्प बड़ा ही सफल रहा है, उसमें कहीं कृत्रिमता या आरोपण नहीं है। वस्तुतः शिल्पगत प्रयोगों के चक्कर और सायास नवीनता तथा आधुनिकता लाने की धुन से हटकर सामाजिकता एवं सोद्देश्यता का निर्वाह ज्ञानरंजन ने इतनी सफलता से किया है कि कथ्य एवं कथन की नवीनता उनमें अपने आप आई है। नए यथार्थ को अभिव्यक्त करने में उनकी कहानियाँ पूर्णरूप से सफल होती हैं।

आज के उन नवीनतम लेखकों में रवीन्द्र कालिया प्रमुख हैं, जिन्होंने कहानी रचना को बड़ी गम्भीरता से लिया है और कम लिखने के बावजूद अच्छी कहानियाँ देने में सफल एवं समर्थ सिद्ध हुए हैं। उनकी कई कहानियों में 'नौ साल छोटी पत्नी', 'सिर्फ एक दिन', 'बड़े शहर का आदमी', 'त्रास', 'क ख ग' अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि की कहानियाँ हैं। 'सिर्फ एक दिन' में एक शिक्षित, योग्य पर बेकार आदमी की नौकरी पाने की असफलता से उत्पन्न अवसाद, घुटन एवं कुण्ठा का रवीन्द्र ने बड़ी मार्मिकता एवं पूर्ण हार्दिक संवेदनशीलता के साथ फेवरटिज्म, नेपोटिज्म एवं जोर-सिफारिश के इस तथाकथित विकासशील युग के व्यापक परिप्रेक्ष्य में चित्रित किया है, जिसमें इतनी यथार्थ एवं स्वाभाविकता है, कि प्रतीत होता है, लेखक की अपनी स्वानुभूति हो। रवीन्द्र की कलात्मकता इस कहानी में इस बात से लक्षित होती है कि प्रस्तुत विषय पर अपनी ओर से उन्हें एक शब्द भी कहने की आवश्यकता नहीं पड़ी, और उनका सत्य अपने आप पूरी प्रभावशीलता के साथ उभरता है, जो मन को झकझोर जाता है। यह कहानी आज की कहानी पर लगाए गए कुण्ठा एवं निराशा के आरोप का जबर्दस्त उत्तर है। इसमें आज की पीढ़ी की पराजय एवं घुटन तथा अवसाद का चित्रण होने के बावजूद यह कहानी अनास्था एवं अविश्वास का स्वर नहीं घोषित करती और न 'स्टेटस सिम्बल' बनने की ही कोशिश करती है, जो नयी कविता की प्रमुख विशेषता होने के कारण भ्रमवश (या सप्रयत्न !) आज की कहानी पर आरोपित कर दिया जाता है। रवीन्द्र की 'बड़े शहर का आदमी' भी इसी प्रकार आज के एक नए सामाजिक यथार्थ का उद्घाटन करने में सफल होती है, और सामाजिक विकृतियों पर मर्मान्तक व्यंग्य प्रहार करती है।

रवीन्द्र के शिल्प में बड़ी आत्मीयता एवं सहजता है। उसमें सादगी के साथ इस बात का अहसास होता है, जैसे लेखक पूर्ण निःसंगता पर पूरे कॉन्फिडेन्स के साथ हमें किसी बात के प्रति कन्विन्स करने की

ोशिश कर रहा है, और उसमें वह पूरी तरह सफल भी होता है। पनी कहानियों में, संतोष का विषय यह है कि रवीन्द्र कलाबाजी और शल्प-सौष्ठव के पीछे भागे नहीं हैं, और अपनी दृष्टि को बराबर सामाजिकता एवं सोद्देश्यता पर ही केन्द्रित रखा है। उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति नवीनता की रही है। नए कथ्य एवं कथन देने का प्रयास उनकी हर कहानी में परिलक्षित होता है। पर इस नवीनता के लिए तर्कहीन ढंग से जटिल एवं दुर्बोध प्रतीक योजना एवं आरोपित सत्यों का आश्रय नहीं लिया है। यथार्थ की पकड़ उनकी गहरी है, और अपनी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से उन्होंने आज की परिवर्तनशीलता, जटिल यथार्थ एवं विषय 'क्राइसिस में नवीनता के बारीक रेशे खोज निकाले हैं, और अपनी कहानियों का संगुफन किया है। यही कारण है कि ये कहानियाँ कल्पना के पंखों पर न उड़ कर यथार्थ परिवेश में व्यापक मानवीय चेतना, एवं 'विराट युगीन सत्यों को समेटते हुए आगे बढ़ती हैं। रवीन्द्र उज्ज्वल भविष्य के साथ पूरी गम्भीरता लिए आगे बढ़ रहे हैं।

धर्मेन्द्र गुप्त की कहानियों का एक संग्रह 'चन्द रोमांसहीन कहानियाँ' के नाम से प्रकाशित हुआ है। जैसा कि नाम से स्पष्ट है, रूमानी धरातल की कल्पनाशीलता से विमुख हो उन्होंने आज के जटिल यथार्थ को सामाजिक सन्दर्भों में अभिव्यक्ति करने का प्रयत्न किया है। उनकी उल्लेखनीय कहानियों में 'एक सुबह', 'आगत का भय' 'शो-केस से बाहर', 'वापसी का दर्द', 'नए-पुराने जूते', 'नई सभ्यता का पतझर' तथा 'एक आदमी की सल्तनतः ग्रिन्ड ईन्ट रोड' आदि हैं। इन कहानियों को पढ़ कर स्पष्ट होता है कि धर्मेन्द्र ने वर्तमान युग की समस्याओं को

महेन्द्र भल्ला की 'बदरंग', 'दीक्षा', 'दिन शुरू हो गया' तथा 'एक पति के नोट्स' आदि उल्लेखनीय कहानियों में आज के आधुनिक जीवन के तथाकथित नवीन स्वीकृत रूप का यथार्थ चित्रण एव उसके खोखलेपन के मुखौटे उधेड़ने का प्रयास किया गया है। महेन्द्र भल्ला के पास स्वस्थ दृष्टि है एव चयनशक्ति की सूक्ष्मता है, जिसके कारण उठाई गई स्थितियों को यथार्थ परिवेश मे प्रस्तुत करने एव मार्मिक पक्षों का उद्घाटन करने मे उन्हें बड़ी सफलता प्राप्त हुई है। उनकी कहानियों मे व्यष्टि चिंतन यहीं तक है, जो आज के आधुनिक जीवन का आवश्यक अंग बनता जा रहा है। इसके फलस्वरूप वे आत्मपरकता की सीमा तक नहीं जा पाते और व्यक्ति के अस्तित्व की समस्या को व्यापक सामाजिक सन्दर्भों में देखने का प्रयत्न करते हैं।

महेन्द्र भल्ला का शिल्प दुहरा-तिहरा नहीं है और न अमूर्त प्रतीक योजना का आश्रय लेकर उन्होंने दुर्बोधता का आवरण लादकर अपनी कहानियों को बौद्धिक आधार देने का ही प्रयत्न किया है। शिल्प की सादगी एवं टैक्सचर की सहजता के कारण अपनी बात को प्रभावशाली ढंग से कहने मे वे अत्यन्त सफल होते है। उनकी कहानियों में मुझे एक बात जो सबसे अच्छी लगती है, वह यह कि उनकी दृष्टि मे एक ऐसा पैनापन है, जो उन्हे व्यंग्य कहानीकार तो नही बना पाता, पर वीभत्सता पर तीखे प्रहार करने की समर्थता अवश्य प्रदान करता है।

से० रा० यात्री की कहानियाँ मध्यवर्गीय जीवन की धुरी पर टिकी है और नगरीय जीवन की विभिन्न समस्याओं को लेकर उन्होंने कई प्रभावशाली कहानियाँ लिखी है, जिनमे 'धब्बे', 'यादों के स्तूप और दर्द

के आईने', 'गर्द और गुबार', 'नीति रक्षा', तथा 'और नदी प्यासी थी' आदि मुख्य है। इन कहानियों की प्रमुख विशेषता यात्री की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि एवं यथार्थ की गहरी पकड़ है। 'यादों के स्तूप और दर्द के आईने' में आधुनिक प्रेम की असफलता और उत्पन्न प्रतिक्रिया को बिना भावुकता अथवा इन्द्रजाल हुए पूर्ण निःसंगता के साथ उन्होंने सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया है। आज के व्यक्ति की बदहवासी, दिशाहारा की भाँति भटकने की प्रवृत्ति, अत्यन्त महत्वाकांक्षाओं से प्रेरित रहना, पर प्रयास-हीनता तथा खोखली जिन्दगी का चित्रण अपनी कहानियों में उन्होंने बड़ी सूक्ष्मता से किया है।

यात्री की कहानियों में प्रमुख बात शिल्प का नया एप्रोच है। अपनी बात को नए ढंग से कहने की उनमें आकुलता है, जो कहीं उन्हें सफल भी बनाती है (यादों के स्तूप और दर्द के आईने', 'गर्द और गुबार'), तो कहीं असफल भी बनाती है (और नदी प्यासी थी, नीति रक्षा), पर उनकी प्रयत्नशीलता एक परिणाम निश्चित रूप से ला रही है, यह इधर की उनकी कुछ कहानियों को पढ़कर लगता है।

जगदीश चतुर्वेदी उन नये कहानीकारों में हैं, जिनके पास कहने के लिए काफी वस्तु है और उसे आधुनिक भावबोध के साँचे में ढालकर वे सफलता से उसे प्रस्तुत भी करते हैं। 'क्रॉस', 'अधखिले गुलाब', 'मुर्दा औरतों की झील', 'मानवता की ओर' आदि उनकी कुछ प्रमुख कहानियाँ हैं। जगदीश में व्यष्टि चिंतन एवं व्यष्टि सत्य को पाने का आग्रह अधिक है, इसलिए उनकी अधिकांश कहानियाँ वैयक्तिक धरातल पर ही निर्मित होती हैं। आधुनिक संवेदना के विविध पक्षों के उद्घाटन एवं अभिनव

की वास्तविकता है और जिसके सम्बन्ध में दो राय नहीं हो सकती।

अनन्त की सभी कहानियाँ समाहित चेतना के धरातल पर प्रतिष्ठित हुई हैं और उनकी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि ने नए सामाजिक यथार्थ का उद्घाटन करने में पूरी सफलता प्राप्त की है। मानव मूल्यों के प्रति पूर्ण आस्था, मनुष्य की सर्वदर्शीन क्षमता के प्रति पूर्ण विश्वास एवं रूढ़ियों के प्रति विद्रोह की भावना उनकी कहानियों के मूल स्वर हैं। उनका यथार्थवाद समाजवादी है और उसी के अनुरूप सामाजिक रूप विधान को परिवर्तित करने की आकुलता है। यह आकुलता प्रत्येक वाक्य के अन्त में सत्य उद्घाटित करने अथवा आशा और विश्वास के चाँद-सूरज उगाने में व्यक्त नहीं होती, वरन यथार्थ स्थितियों के निर्मम-निस्पृह उद्घाटन एवं सहज प्रस्तुतीकरण में स्पष्ट होती है। शिल्प की सादगी, जनवादी भाषा एवं स्वस्थ परम्परा का निर्वाह उनकी कहानियों की प्रमुख विशेषताएं हैं।

अनन्त की ही भांति योगेश गुप्त भी प्रगतिशील कहानीकार हैं। 'चलते-चलते एक दिन', 'एक शाश्वत स्थिति', 'मायों की नदी', 'मीलों लम्बा सफ़र' तथा 'एन्क्लोजर' आदि उनकी उल्लेखनीय कहानियां हैं, जिनमें नए सत्य को पाने की आतुरता, प्रगतिशील मानदण्डों की स्थापना का आग्रह और सामाजिक यथार्थ को समाजवादी विचारधारा के अनुरूप चित्रित करने की प्रवृत्ति मिलती है। योगेश गुप्त में स्वस्थ दृष्टि है और समग्र सामाजिक चेतना है, जो उनकी कहानियों में प्रमुख रूप से दृष्टव्य है। वर्ग-वैषम्य एवं आर्थिक विषमताओं के फलस्वरूप उत्पन्न सामाजिक विकृतियों के प्रति उनका तीव्र आक्रोश है, जिसे उन्होंने अपनी

पैनी दृष्टि से बड़ी यथार्थता के साथ प्रस्तुत किया है और मनुष्य के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं को सामाजिक सन्दर्भों के भीतर उभारने का प्रयत्न किया है।

उनकी कहानियों में समष्टि सत्य और मानव मूल्यों की स्थापना मिलती है, जिसके कारण ये आज के नए यथार्थ के साथ घनिष्ठतम रूप में सम्बद्ध रहती हैं। इनमें पूर्ण लेखकीय संवेदनशीलता के साथ स्वानुभूति के स्तर पर लाकर प्रस्तुत की गई स्थितियों का सम्प्रेषण प्राप्त होता है, जो कहानियों के प्रभाव को और भी गहरा बनाती हैं तथा उन्हें विशिष्टता प्रदान करती हैं।

रामनारायण शुक्ल एक लम्बे अर्से से कहानियाँ लिख रहे हैं। इस दशक के नए कहानीकारों में उन्होंने अपना प्रमुख स्थान बना लिया है। उनकी बहु-चर्चित कहानियों में 'भावुक', 'दाव', 'पाम-बुक' तथा 'जीवन' आदि हैं। उनकी कहानियाँ प्रगतिशील दृष्टिकोण को प्रतिध्वनित करती हैं। नवीन मूल्यों को अपनाने के प्रति आग्रह परिवर्तनशीलता के नवीन आयामों एवं नए उभरने वाले मानदण्डों को बड़ी सतर्कता से रामनारायण शुक्ल ने अपनी कहानियों में चित्रित किया है, जिनका मूल स्वर आस्था एवं विश्वास का है। नए सामाजिक यथार्थ का उद्घाटन करने में उन्हें विशेष सफलता प्राप्त हुई है। इस दृष्टि से 'भावुक' उनकी सर्वोत्कृष्ट रचना है, जिसमें बदलती हुई नैतिकता को उन्होंने अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से परखा एवं चित्रित किया है।

उनके पात्र जीवन के यथार्थ से लिए गए हैं, और उसकी यथार्थता एवं स्वाभाविकता से प्रस्तुत भी किए गए हैं। इन पात्रों के मानस का

विश्लेषण करने, अन्तस एवं वाह्य का परस्पर सामंजस्य कर संतुलित रूप उपस्थित करने एवं परिवर्तित सामाजिक सन्दर्भों में उनकी वास्तविक स्थिति का मूल्यांकन करने में रामनारायण शुक्ल सफल रहे हैं। उनकी कहानियों में सामाजिक जवाबदेही का निर्वाह अत्यन्त उत्कृष्ट ढंग से हुआ है और सोद्देश्यता की रक्षा करने में भी उन्होंने अपनी सजगता का परिचय दिया है।

'अकेली आकृतियाँ' शीर्षक कहानी संग्रह के लेखक प्रयाग शुक्ल पिछले वर्षों काफी चर्चित होते रहे हैं। उनकी कई कहानियाँ काफी उत्कृष्ट कोटि की सिद्ध हुई हैं, जिनमें 'अनहोनी', 'खोज', 'आदमी', 'बातें' तथा 'एक अपरिचय' आदि कहानियाँ विशेष महत्व रखती हैं। सीधे-सादे ढंग से अपनी बात कहने और अनावश्यक जटिलता, दुर्बोधता एवं सिम्बॉलिज्म का तिरस्कार कर सामाजिक परिवेश का नएपन के साथ चित्रण करने की कला में प्रयाग शुक्ल विशेष रूप से सफल रहे हैं। उनकी कहानियाँ छोटी-छोटी हैं, और जिन्दगी के यथार्थ के छोटे छोटे टुकड़ों को अपनी पैनी दृष्टि एवं सजगता के साथ प्रस्तुत करने के साथ ही उन्होंने सामयिक युग-बोध और भाव-बोध को बांधने में भी अपनी अपूर्व कला-सौष्ठव का परिचय दिया है।

प्रयाग शुक्ल में अनुभूति की सच्चाई है, और उन्होंने जो कुछ भी कहा है, बड़े सहज एवं स्वाभाविक ढंग से, जो स्वानुभूति के विशिष्ट स्तर पर यथार्थ की महत्वपूर्ण सृजन प्रक्रिया बन जाती है। आज के जीवन के बहुविधि पक्षों पर अपनी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि फेंकते हुए उन्होंने गहराई से महत्वपूर्ण सत्यों को निकाला है, और नवीन परिप्रेक्ष्य में पूर्ण

प्रगतिशीलता के साथ उन्हें प्रस्तुत किया है, जि
परिवेश अपने आप सिमट आया है। कला का
काम था, और प्रयाग शुक्ल जैसे नए कथाकार
प्रारम्भिक भी, साथ ही अनुभवहीन भी। पर
अपनी यथार्थ अनुभूतियाँ थीं, और अभिव्यक्ति
माध्यम। उन्होंने शिल्प की सादगी और सहज
कार्य इतनी दक्षता से किया है कि उनकी कई
वाली बन गई हैं। सामाजिकता एवं सौंदर्यता
कहानियाँ देखी जा सकती हैं, जिनमें नए यथार्थ
प्रवृत्ति है।

१

१ सुरेन्द्र मलहोत्रा की कहानियाँ बड़ी प्रभावशा
'लाशों और कफन', 'जिन्दगी : एक पंखहीन तितली'
उल्लेखनीय हैं। सुरेन्द्र की कहानियाँ विराटता को
प्रक्रिया है, जिनमें उनकी यथार्थ दृष्टि एवं पैनापन
है। उनकी कहानियों का जो व्यक्ति है, वह बहुत
पर अस्वाभाविक नहीं है। उसे उसके यथार्थ
साथ प्रस्तुत करने में सुरेन्द्र ने पूर्ण निपुणता एवं
दिया है। वे एक साथ आधुनिक जीवन के कई
का प्रयत्न किया है, जिसके कारण उनकी कहानि
ही, साथ ही आधुनिक सचेतना के विविध पक्षों
[illegible]

कता अधिक मिलती है, पर आधुनिक जीवन के अभिनव परिपाश्र्व एवं भावुक नारी मन.स्थितियों को अभिव्यक्त करने मे वे यथेष्ट मात्रा मे सफल रही हैं।

अनीता की कहानियाँ नारी जीवन के बहुविधिय पक्षो का चित्रण करती हैं, पर उनमे मूलतः प्रेम का स्वर है। प्रेम की सफलता का चित्रण 'न जाने क्यो' मे बड़े ही प्रभावशाली ढग से हुआ है जिनमे दर्जनों लिखी जाने वाली उसी प्रकार की कहानियो के परिचित खटको से बचाकर उन्होने एक नई दृष्टि से कथा का निर्वाह किया है। उनमे दृष्टि की सजगता है साथ ही नए यथार्थ को पहचानकर नवीन भाव-मूलक स्थितियो की उद्भावना करने की समर्थता है। आधुनिक भाव बोध को समझने और नवीन मूल्यो को उभारने की प्रवृत्ति के कारण उनकी कहानियो मे ऐसी विशिष्टता आ गई है. जो पिछले दशक की कई महिला-कहानीकारो से उन्हे अलग करती है। यद्यपि एक लम्बी यात्रा अभी उन्हे तय करनी है, पर अब तक की प्रकाशित कहानियो को देख-कर यह आशा बधती है कि वे उन मजिलों को सफलतापूर्वक तय करने मे पूर्णतया समर्थ हैं।

राजेन्द्र जगोता की 'ट्रैम्पोलीना', 'जिन्दगी और सृजन का आभास', 'पानी के परदो के पीछे' तथा 'मजिल का बोध' आदि कहानियाँ ध्यान आकर्षित करती हैं। उनके पास नया कथ्य है और अभिव्यक्ति देने के लिए नई दृष्टि है। आधुनिक जीवन के विविध सन्दर्भों को उन्होने बदलती स्थितियो एवं नए मूल्यों के सन्दर्भ से बडी सतर्कता से प्रस्तुत किया है।

श्याम परमार की 'जीप की दोग़ली नजर', 'लान पर कसमसाते पाँव'

तथा 'अलस बाहों की दोपहर' महत्वपूर्ण कहानियाँ हैं, जि
सामाजिक दृष्टि एवं नए यथार्थ धरातल को उद्घाटित
उपलब्ध होती है। उनकी कहानियों में स्थानीय रंगों
सफलता से हुआ है, जिसके कारण वे अधिक स्वाभाविक
होती हैं। उनके शिल्प की सादगी, प्रवाह एवं आधुनिक सं
की प्रवृत्ति के कारण उनकी कहानियों मे प्रभावशीलता की

बलराज पण्डित की 'खाली चेहरा', 'अपने शहर
तथा 'अँधेरे में डूबा हुआ आदमी' आदि कहानियाँ स
दृष्टि से द्रष्टव्य हैं। इनमें बलराज की लेखकीय क्षम
दृष्टि, यथार्थ को पहचानने की समर्थता एवं नवीन मूल्य
करने की प्रवृत्ति लक्षित होती है। उन्होंने स्वानुभू
लाकर ही स्थितियों को यथार्थ ढंग से प्रस्तुत किया है,
कहानियों में अधिक विश्वसनीयता तथा सहजता है।

अवध नारायण मुद्गल की तीन कहानियाँ 'पीट,ब्रच
'गन्धों के साये' तथा 'टूटी हुई बैसाखियाँ' उल्लेखनीय हैं
सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि है और उन्होंने नए सामाजिक सम्ब
करने में सफलता प्राप्त की है। उनकी कहानियों मे मा
को भी स्पष्ट करने का सूक्ष्म प्रयत्न लक्षित होता है
भावबोध को अभिव्यक्त करने की प्रवृत्ति मिलती है।

ओंकार ठाकुर की 'किसी के लिए', 'ऊब' आदि
मे आई हैं, जिनमें मानव जीवन की विभिन्न स्थितियों को
अभिव्यक्त करने की प्रवृत्ति मिलती है। ओंकार ने आज
बड़ी स्वाभाविकता से चित्रित किया है, तथा नवीन मूल्
हीन मानदण्डों तथा मानव सम्बन्धों का बड़ी सूक्ष्मत
किया है, जिसमें बड़ी मार्मिकता है।

सुदर्शन चोपड़ा वस्तुतः निम्नवर्गीय जीवन के यथार्थ

'अनलिखी कहानी को सिलवें', 'तीसरी पीढ़ी', 'झील की गहराई', 'गीली पट्टी', 'जिन्दगी का सर्करामा', 'ओलिम्पस', 'हस्ताक्षर' तथा 'पुल' आदि कहानियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। सुदर्शन चोपड़ा में सामाजिक यथार्थ को पहचानने की अद्भुत क्षमता है। उनकी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि समाज के बहुविधि पक्षों पर गई है जिन्हें उन्होंने सोद्देश्यतापूर्ण ढंग से चित्रित किया है। सुदर्शन चोपड़ा की दृष्टि मूलतः प्रगतिशील है, इसीलिए उन की कहानियों में स्वस्थ दृश्य तो प्राप्त होते ही हैं, साथ ही मानव-मूल्यों एवं जीवन मर्यादा की भावनाएँ भी कुशलता से सगुम्फित हुई हैं। उन्होंने अपनी कहानियों में यथार्थवाद के प्रति विशेष आग्रहशीलता प्रकट की है, इसलिए उनकी कहानियाँ सत्यता, स्वाभाविकता एवं सहजता का प्रतीक बन सकी हैं। सबसे बड़ी बात उनकी यथार्थ भाषा है, जिसे उन्होंने जनवादी तत्वों को ग्रहण करते हुए प्रस्तुत किया है। सुदर्शन चोपड़ा का शिल्प प्रयासहीन है, जिससे उनकी कहानियों में भावाभिव्यक्ति की अपूर्व क्षमता आ गई है। यह सतोष का ही विषय है कि 'आधुनिकता' के चक्कर में न पड़कर सुदर्शन ने जीवनको उसके उचित परिप्रेक्ष्य एवं यथार्थ परिवेश में देखने की चेष्टा की है, जो अपने आपमें एक बहुत बड़ी चीज है।

× × ×

इन लेखकों के अतिरिक्त ओमप्रकाश निर्मल, ओम प्रभाकर, कान्ता सिनहा, काशीनाथ सिंह, कंचन कुमार, बटरोही, मधुकर गंगाधर, हृदयेश, पानू खोलिया, मधुकर सिंह, अजित पुष्कल, बालकृष्ण उपाध्याय, नीलकान्त, ओम तिवारी 'अरुण', मेहरुन्निसा परवेज, भीमसेन त्यागी, प्रेम कपूर, सुन्दर लोहिया, अमरेन्द्र अमर, विनीता पल्लवी, गिरिराज किशोर, दूधनाथ सिंह, सुधा अरोड़ा, ज्ञान प्रकाश, कैलाश नारद, मोहन अवस्थी, बुद्धिसेन शर्मा आदि ऐसे अनेक सशक्त कहानीकार हैं, जो इस पीढ़ी को स्वरूप देने और दिशा प्रदान करने में संलग्न हैं। मुझे खेद है, इनकी कहानियाँ न उपलब्ध हो पाने के कारण इनके सम्बन्ध में अलग-अलग नहीं कहा जा सकता है।

प्रवृत्तियाँ एवं दिशाएँ

नई कहानी अनेक प्रवृत्तियों को लेकर विकसित हुई है, जिन
विभिन्न कहानीकारों के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण का विशेष प्रभाव प
है। इस प्रवृत्ति का भ्रम जीवन-दर्शन से नहीं होनी चाहिए, वरन् र
नात्मक स्तर पर ही देखी जानी चाहिए। नई कहानी का विभाज
प्रवृत्तियों के आधार पर भी पिछले दौर की कहानियों की तुलना
स्पष्ट किया जा सकता है। जैसा कि आगे विवेचन हुआ है, ये प्रवृत्ति
कमोवेश समूचे साहित्य-दौर में प्राप्त होती हैं, पर नई कहानी ने प्र
बार उनका संतुलित, संयमित एवं अनिवार्य अशों में प्रयोग किया
जिससे सृजनात्मक स्तर पर अधिक सप्राणता आई है। ये प्रवृत्तियाँ न
कहानी में गढ़ी नहीं गई हैं, वरन् जीवन तत्वों में से विविध दृष्टियों
समर्थता के अनुसार उभार कर स्पष्ट की गई हैं, जिनमें स्वाभाविकता
और इम्प्रेशन डालने की सक्षमता है। वह यांत्रिक या सायास नहीं प्रती
होता, इसीलिए प्रवृत्तियों की दिशाओं की दृष्टि से भी नई कहा
विशिष्ट बन जाती है।

नई कहानी में प्रवृत्तियों की चर्चा करते समय स्वभावतः पह
ध्यान यथार्थवाद पर ही जाता है। यथार्थवाद का वास्तविक सम्य

फ्रेन्च यथार्थवादी स्कूल से है, जिसका प्रथम प्रयोग १८३५ में आदर्शवादी विचारधारा में विश्वास रखने वालों के विरुद्ध सौन्दर्यवादी विवरण के रूप में हुआ था। बाद में १८५६ ई० में एक पत्रिका 'रियलिज्म' की स्थापना के पश्चात् इसका प्रयोग साहित्य में भी होने लगा। दुर्भाग्य से यथार्थवाद का विशेष महत्त्व फ्लाबेयर और उनके सहयोगियों द्वारा साहित्य में अपनाई जाने वाली अनैतिक मान्यताओं एवं 'निम्न कोटि' के विषयों के विरुद्ध उठे कटु विवाद के रूप में बहुत कुछ अंशों में न्यून हो गया। इसके परिणामस्वरूप यथार्थवाद का प्रयोग आदर्शवाद के भिन्न रूप के ही अर्थ में ग्रहण किया जाने लगा। यह वास्तव में फ्रेन्च यथार्थवादियों के विरोधियों द्वारा ग्रहण किये गये दृष्टिकोण से प्रतिध्वनित रूप था। इसने कथा-साहित्य के ऊपर अपना स्थायी प्रभाव डाला और जितनी भी साहित्यिक विधाएँ उस समय प्रचलित थीं, उनमें कथा साहित्य ही इससे सर्वाधिक प्रभावित हुआ और उसने यथार्थवाद को ही अपना मुख्य आधार-स्तम्भ समझना प्रारम्भ किया। तभी वह जन-जीवन के अधिक निकट आया, साथ ही उसकी लोकप्रियता में भी आशातीत वृद्धि हुई, क्योंकि इस स्थिति में उसमें सत्यता एवं स्वाभाविकता का आभास अधिक मात्रा में प्रतिध्वनित होने लगा। अभी तक कल्पनाशीलता और अस्वाभाविकता के जिस वातावरण ने कथा साहित्य को अपने वातावरण में जकड़ रखा था, यथार्थवाद ने समय से उसका मूलोच्छेदन करके उसको उचित रूप से दिशोन्मुख किया।

यथार्थवाद वास्तव में वस्तुओं के यथातथ्य चित्रण पर नहीं अपितु सत्यानुभूति से प्रेरित चित्रण पर बल देता है। यदि कोई कहानी मात्र इसलिए यथार्थवादी है कि उसमें जीवन का चित्रण तटस्थ दृष्टि से किया गया है, तो वह केवल अन्वेषित रोमांस ही होगा। यथार्थवाद बहुविध मानव अनुभवों के पूर्ण चित्रण का प्रयत्न करता है न कि किसी विशेष साहित्यिक दृष्टिकोण का। यथार्थवाद, उस जीवन प्रकार में नहीं अवस्थित रहता, जो कहानियों में प्रस्तुत किया जाता है, वरन्

उस जीवन प्रकार के प्रस्तुतीकरण की शैली में विश्वास रहता है ।
विश्लेषित होता है । यह आशय है स्वच्छन्द यथार्थवादियों की स्थि
के अत्यधिक निकट है, जिसका मत था कि यदि उनकी कथा-साहि
बहुरंजित एवं स्वाभिव्यक्त नीति-शास्त्र सम्बन्धी साहित्यिक एवं सा
मिक मान्यताओं के कोष में प्रस्तुत मानवता से अतिरंजित चित्रों
भिन्न है तो मात्र इसीलिये कि यह जीवन के भावेशहीन और वैज्ञानि
परीक्षण से प्रभावित वातावरण की प्रवृत्ति के प्रभाव से उत्पन्न गुण
प्रक्रिया के परिणाम हैं जैसा पहले कभी नहीं हुआ था । यथार्थवाद इ
सत्य का समर्थन करता है कि साहित्य सृजन न तो प्राणहीन स्तर प
जीवित रह सकता है जैसा कि प्रकृतवादियों ने दावा किया था औ
न किसी अधिविश्वासी सिद्धान्त पर जो स्वयं अपने स्तर का शून्य
विलय कर देता है । वास्तविक रूप से महान् यथार्थवाद इस प्रक
मानव और समाज का उनके पूर्ण रूप से चित्रण करता है और उन
एक या दो विशेषताओं मात्र के चित्रण के प्रति अपनी अनास्था प्रक
करता है, क्योंकि इस अपूर्णता से उसे सन्तोष नहीं है ।

दर्शनशास्त्र में 'यथार्थवाद' से अभिप्राय एक यथार्थवादी दृष्टिको
से है, जो मध्ययुगीन यथार्थवादियों के दृष्टिकोण से निकट साम्य रखत
है कि सत्य यथार्थ विश्वव्यापी भावनाएँ, वर्ग, समाज और उनके निचो
सत्व हैं, न कि वे भावनाएँ जो इन्द्रियों के मनन-मन्थन से स्पष्ट होत
हैं । कथा-साहित्य के सन्दर्भ में यह विचार प्रायः स्वयं एवं सारही
प्रतीत होगा, क्योंकि उनमें अन्य साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा अधि
सत्य अन्तर्निहित रहता है, पर इससे एक तथ्य निश्चित रूप से स्पष
होता है । यह कहानियों की एक प्रमुख विशेषता की ओर इंगित करत
है, जो आज यथार्थवाद के परिवर्तित दार्शनिक अर्थ से मिलता-जुलत
है । यह युग ऐसा युग है, जिसमें साधारण बौद्धिकता निर्णयात्मक रूप से
मध्यकालीन उपलब्धियों से विश्वव्यापकता की भावना की अस्वीकृति—
या कम से कम अस्वीकृति करने की प्रयत्नशीलता के कारण अलग क

दी गई थी।

जब आधुनिक यथार्थवाद कालक्रम में इस स्थिति में प्रारम्भ होता है कि व्यक्ति स्वयं अपने भाव-अनुभावों से सत्य का आविष्कार नहीं कर सकता, बल्कि बाह्य सृष्टि मात्र है और व्यक्ति के व्यक्तिगत भाव-अनुभाव उस उसका मात्र विवरण बन रहते हैं। यद्यपि इस धारणा से साहित्यिक यथार्थवाद पर कुछ विशेष प्रकाश नहीं पड़ता और न साहित्य में इससे जान कर ले यथार्थवाद की व्यवस्था या उसका अभिप्राय ही स्पष्ट हो पाता है। क्योंकि प्रत्येक युग में लगभग सभी ने इस रूप में बाह्य सृष्टि के सम्बन्ध में यही निष्कर्ष अपने व्यक्तिगत अनुभवों के माध्यम से निकाला है और साहित्य कुछ सीमाओं तक प्रायः इन्हीं भाव-भावों एवं निष्कर्षों का स्पष्टीकरण करता रहा है। ऐसी धारणाओं और इनसे सम्बन्धित तीव्र विवादों में प्रायः इतनी स्वभावगत समानता है कि साहित्य पर उनका कोई विशेष प्रभाव स्पष्ट न हो सका। दार्शनिक यथार्थवाद की दृष्टि सामान्यतया आलोचनात्मक है और वह परम्परा के प्रति अपना विद्रोह प्रकट करता है। इसकी पद्धति उन व्यक्तिगत अन्वेषकों के प्राप्त अनुभवों के विवरणों का अध्ययन करना है, जो कम से कम प्राचीन अनुमानों से मुक्त हैं और परम्परागत ढङ्ग में अपनी अनास्था प्रकट करते हैं। यथार्थवाद, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, परम्पराओं एवं पूर्व अर्जित अनुमानों एवं विश्वासों को ज्यों का त्यों स्वीकार करने के प्रति अपनी अनास्था प्रकट करता है। कथा-साहित्य के साहित्यिक रूप के उदय होने के पूर्व जितनी भी साहित्यिक विधाएँ थीं, वे परम्परागत सत्य की ही जाँच करती थीं और उनका ही विवरण प्रस्तुत करती थीं। क्लासिकल और नवीन क्रान्ति के युग की अधिकांश रचनाओं के प्लॉट, उदाहरण स्वरूप, प्राचीन इतिहासों एवं उनकी उपलब्धियों पर ही आधारित थे और लेखकों की प्रस्तुतीकरण सम्बन्धी शैली की प्रतिभा की आँच सामान्य रूप से उन्हीं साहित्यिक मानदण्डों के माध्यम से होती थी, जो परम्परागत ढङ्ग से

चले आ रहे थे और जो उन्ही रूपों में बिना किसी परिवर्तन के परिवर्तित परिस्थितियों में भी ज्यों की त्यों स्वीकृत कर लिये गये थे। यह पूर्णतया हास्यास्पद था, साथ ही साहित्य की प्रगतिशीलता एवं उसकी परिवर्तनशीलता के प्रति अनास्था प्रकट कर परम्परागतवाद की सबसे बड़ी विजय थी। इस साहित्यिक परम्परागतवाद को सबसे जबर्दस्त चुनौती कथा-साहित्य ने दी—जिनका सर्वप्रमुख कार्य व्यक्तिगत अनुभवों के सत्य का प्रतिपादन था। ये व्यक्तिगत अनुभव बराबर ही असाधारण और इसीलिए सर्वथा नवीनता धारण किये रहते थे। कथा-साहित्य इस प्रकार उस संस्कृति का एक तर्कसङ्गत साहित्यिक मानदण्ड है, जिसने पिछली कुछ शताब्दियों में मौलिकता पर आधारित असाधारण मूल्यान्वेषण किया है।

पर यहाँ भ्रम की स्थिति नहीं उत्पन्न होनी चाहिये। दर्शन वास्तव में भिन्न स्थिति रखता है और साहित्य की स्थिति उससे भिन्न है। इन दोनों में जो भी साम्य है उससे यह कदापि अनुमान न लगाना चाहिये कि दर्शन की यथार्थवादी परम्परा से ही कथा-साहित्य की यथार्थवादी परम्परा का जन्म हुआ। यदि कथा-साहित्य की यथार्थवादी परम्परा पर दर्शन की यथार्थवादी परम्परा का कोई प्रभाव है भी तो वह दार्शनिक लॉक के कारण, जिसके विचार अठारहवीं शताब्दी में प्रत्येक स्थान पर वैचारिक वातावरण के गहनतम रूप में छाये हुए थे। किन्तु यदि कोई आकस्मिक सम्बन्ध परिलक्षित होता भी है और वह महत्व का है, तो वह प्रत्यक्ष कम है, अप्रत्यक्ष अधिक। दार्शनिक और साहित्यिक नवीनताओं, दोनों में ही महान् परिवर्तनशीलता के समान स्तर पर आंका जाना चाहिये। यहाँ हम एक सीमित दृष्टिकोण से सम्बन्धित हैं कि कथा-साहित्य की यथार्थवादी परम्परा एवं दर्शन की यथार्थवादी परम्परा की परस्पर समानता उसकी वर्णनात्मक स्थिति स्पष्ट करने में कहाँ तक सहायक है। यह जैसा कि कहा गया है, साहित्यिक शैलियों का निष्कर्ष है, जहाँ कहानियों द्वारा मानव जीवन के अङ्कन की प्रक्रिया

इस रूप को स्पष्ट करने एवं उसके विवरण देने की प्रयत्नशीलता की प्रक्रिया में उस पद का अनुगमन करती है, जो दार्शनिक यथार्थवाद से प्रभावित है। ये प्रक्रियाएँ किसी भी रूप में मात्र दर्शन तक ही सीमित नहीं है। वास्तव में किसी भी घटना के अन्वेषण सम्बन्धी प्रक्रिया में जो यथार्थ के सन्दर्भ में होती है, वे अपनायी जाती है। यथार्थ की अनु-कृति कहानियों में प्रस्तुत करने के ढङ्ग को अदालतों में न्याय करने के ढङ्ग के समान सिद्ध किया जा सकता है। कथा-साहित्य के पाठकों और अदालतों में अनेक अंशों में समानता होती है। दोनों ही अपने सामने उपस्थित मामले में प्रत्येक तथ्यों से पूर्णतया अवगत होना और सत्य से परिचित होना चाहते है। किसी प्रकार का रहस्य या दुराव-छिपाव उन्हें रुचिकर एवं न्यायपूर्ण नहीं प्रतीत होता और वे इसे श्रेयस्कर नहीं समझते। वे जानना चाहते है कि अमुक घटना कब, कहाँ और किस समय घटित हुई। दोनों ही सम्बन्धित पक्षों की पहचान से पूर्णतया परिचित होना चाहते है और किसी भी ऐसे व्यक्ति के सम्बन्ध मे, जो परिचित और सामान्य नही है, कोई साक्ष्य स्वीकृति नहीं करेंगे। वे ऐसे गवाहों की भी आशा करेंगे, जो 'अपने शब्दों में' सारी कहानी कहे और मामले को स्पष्ट करें। वास्तव में न्यायाधीश की जीवन के प्रति चतुर्मुखी दृष्टिकोण होता है और आलोचक टी० एच० ग्रीन के शब्दों में कथा-साहित्य का भी यही दृष्टिकोण होता है।

कथा साहित्य की उस वर्णनात्मक प्रणाली को, जिसके माध्यम से यह चतुर्मुखी दृष्टिकोण स्पष्ट होता है, रूपगत यथार्थवाद की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। रूपगत इस अर्थ में, क्योंकि 'यथार्थवाद, का सम्बन्ध किसी विशेष साहित्यिक सिद्धान्त या उद्देश्य से नहीं वरन् कुछ वर्णनात्मक प्रणालियों से है, जो एक साथ कथा-साहित्य में प्राप्त होती हैं तथा दूसरी साहित्यिक विधाओं में दुर्लभ होती हैं। चूंकि उनमें मानवीय अनुभवों का पूर्ण एवं अधिकृत विवरण रहता है, इसी-लिए कहानीकार के ऊपर यह दायित्व रहता है कि वह ऐसी घटनाओं,

ऐसे पात्रों, ऐसे स्थानों एव ऐसे तथ्यों का विवरण कहानियों में उपस्थित करे जिससे पाठकों को इस बात का विश्वास हो जाये कि वह 'किस्सा' नहीं; मानवीय अनुभवों का ही पूर्ण एवं अधिकृत विवरण प्राप्त कर रहा है। यह विवरण कथा-साहित्य के अतिरिक्त किसी भी अन्य साहित्यिक विधा मे इतनी सूक्ष्मता एवं कलात्मकता से प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। इसीलिए रूपगत यथार्थवाद कथा-साहित्य से ही घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है।

वास्तव में रूपगत यथार्थवाद साक्ष्य नियमों की ही भाँति है। यहाँ इसका यह अर्थ कदापि न लगाना चाहिए कि उनमे प्रस्तुत मानवीय अनुभवों के विवरण सत्य एव यथार्थ होते हैं तथा अन्य साहित्यिक विधाओं मे प्रस्तुत ऐसे विवरण अयथार्थ होते हैं। ऐसा वास्तुतः कोई कारण नहीं कि उनमें प्रस्तुत मानवीय अनुभवों के विवरण अन्य साहित्यिक विधाओं मे भिन्न प्रणालियों के माध्यम से प्रस्तुत ऐसे ही विवरणों की अपेक्षा क्यों अधिक सत्य होने चाहिए या होते हैं। कथा-साहित्य द्वारा प्रस्तुत विश्वसनीयता का पूर्ण वातावरण यही भ्रम की स्थिति उत्पन्न करता है और कुछ यथार्थवादियों एवं प्रकृतवादियों का यह भ्रम कि किसी सत्य तथ्य का ज्यों का त्यों चित्रण किसी यथार्थवादी सत्य एव चिरस्थायी रचना-प्रक्रिया की सृजनात्मक का कारण बनती है, सर्वथा विडम्बना मात्र है। ऐसा कभी नहीं होता और उनका यह भ्रम ही वास्तव मे यथार्थवाद और उसके समस्त कार्यों के प्रति उत्पन्न होने वाले बहुविस्तारित अरुचि के लिए उत्तरदायी है। यह अरुचि हमें एक भिन्न मार्ग की ओर दिशोन्मुख कर अन्य अनेक भ्रम उत्पन्न कर सकती है। हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि यथार्थवादी स्थूल में कुछ कमियाँ हैं। जो प्रायः कथा-साहित्य की सभी रचनाओं मे प्राप्त होती हैं और जिनका निराकरण करने मे प्रायः सभी कथाकार असमर्थ रहे हैं। यदि इन कमियों को हम भूल जायेंगे, तो यथार्थ पर ऐसा गहन अन्धकार आच्छादित हो जायेगा, भविष्य में जिसका नये सिरे से मूल्यांकन

जाता प्रायः कठिन हो जाएगा । इसके साथ ही हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि यद्यपि कथा-यथार्थवाद मात्र एक शब्द ही है पर अन्य साहित्य की सम्पदाओं की भाँति इसके भी अपने अनेक उपयोगी लाभ हैं जिन्हें नकारा नहीं जा सकता है। भिन्न-भिन्न साहित्यिक विधाओं द्वारा यथार्थवाद के चित्रण करने की रीति में अनेक उल्लेखनीय अन्तर है और कथा-साहित्य का स्वतन्त्र यथार्थवाद अन्य साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा मानवीय अनुभवों की अनुभूति शीघ्र ही अपने विशिष्ट वातावरण में कर लेता है। फलस्वरूप यह अन्य साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा पाठकों पर अधिक स्थायी प्रभाव डालने में सक्षम सिद्ध होता है और यही कारण है कि हिन्दी साहित्य में पिछले लगभग ८४ वर्षों में पाठकों ने साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा कथा-साहित्य को अधिक अपनाया है। क्योंकि यह उन्हें अधिक मात्रा में आत्म सन्तुष्टि देता है और वे जीवन और कला के मध्य निकट तादात्म्य स्थापित कर सकने में सफल हो पाते हैं।

यथार्थवाद त्रुटिपूर्ण विषयों एवं उद्देश्यों के मध्य कोई समझौता करना है ऐसा समझना भ्रामक है । यथार्थवाद एक ऐसे मार्ग के अनुगमन पर बल देता है जो विकासशील सृजन-प्रक्रिया से सम्बन्धित है। इस विकासशील सृजन-प्रक्रिया के मार्ग में जो भी शक्तियाँ अवरोध उपस्थित करती हैं, यथार्थवाद उन्हें तिरस्कृत कर उनके प्रति अविश्वास का भाव प्रकट करता है। इस प्रकार यथार्थवाद ऐसे सत्य को उद्घोषित एवं समर्थित करता है, जिसके अनुसार साहित्य-सृजन न तो प्राणहीन औसत की प्रतिकृति मात्र बन सकता है, जैसा कि प्रकृतवादियों ने अपनी धारणा में प्रतिपादित किया था और न ही किसी ऐसे व्यक्तिवादी सिद्धान्त पर अवस्थित है, जिसके अनुगमन से किसी भी परिणाम की आशा नहीं वरन् शून्य की निरापद स्थिति प्राप्त होती है। अतः वास्तविक यथार्थवाद मानव और समाज को उनके पूर्ण रूप में ही चित्रित करता है। उसका खण्डित एवं असत्य रूप उसे सह्य नहीं है और वह

उन्हें अस्वीकार करता है। यह केवल एक पक्ष या दो पक्षों का चित्रण मात्र करके ही सन्तोष नहीं कर लेता। यथार्थवाद यद्यपि कल्पना का पूर्ण तिरस्कार तो नहीं करता; पर कल्पना से उसका सम्बन्ध वहीं तक रहता है, जहाँ तक उसकी अनिवार्यता होती है। पहले यही समझ लें कि वस्तुत. कल्पना है क्या ? कल्पना हमारी उस मानसिक प्रक्रिया की द्योतक है, जो अन्तर्मन में अनेक चित्र बनाती है और उनका स्वरूप हमारी संवेदनाजन्य परिस्थितियों पर निर्मित करती है। कल्पना और तर्कशक्ति में कोई साम्य नहीं वरन् एक अन्तर्विरोध-सा बना रहता है। कला सम्बन्धी कोई सृजनात्मक प्रक्रिया तभी सम्भव होती है, जब कल्पना और यथार्थ समन्वित रूप से नवीन निर्माण कार्य में संलग्न होते हैं। चेखव ने एक स्थान पर लिखा है कि यथार्थवाद बाह्य-जगत् का ही अनुगमन नहीं करता वरन् वह महती उद्देश्यों से प्रेरित भी होता है। अत. कहा जा सकता है कि यथार्थ तत्वों का ज्यों का त्यों चित्रण करना न तो वाञ्छनीय ही है न सम्भव ही है। इसीलिए साहित्य-सृजन में यथार्थ के रङ्ग को और भी गाढ़ा बनाने और प्रभावशाली बनाने में आवश्यकतानुसार कल्पना का आश्रय ग्रहण किया जाता है। फलस्वरूप वे तथ्य, जो यथार्थ हैं और प्रस्तुत करने के लिये वाञ्छनीय हैं, उन्हें एक विशिष्ट दृष्टिकोण से एक विशेष परिवेश में उपस्थित किया जा सके। यथार्थवाद इसीलिए परम्परागतवाद का पूर्ण तिरस्कार कर सामयिक परिस्थितियों पर अधिक बल देता है और कल्पना की अनिवार्य आवश्यकता के माध्यम से उसे सत्य ढङ्ग से प्रस्तुत करता है।

इस प्रकार यथार्थवाद से अभिप्राय उस चतुर्मुखी दृष्टिकोण से है, जो स्वतन्त्र जीवन, चरित्रों एवं मानवीय सम्बन्धों से घनिष्ठ रूप में [illegible] है। यह किसी भी रूप में भावुक एवं बौद्धिक शक्तियों का [illegible] करता, जो अनिवार्यत: आधुनिक युग के साथ विकसनशील अवस्था में प्राप्त होता है। यथार्थवाद का विरोध-मात्र उन अवरोधक शक्तियों में है, जो मनुष्य की पूर्णता तथा व्यक्ति एवं परिस्थि-

तियो की वस्तुगत विचित्रता को क्षणिक मुद्रा के माध्यम से खण्डित एव नष्ट करती है। इन अवरोधक शक्तियो के विरुद्ध सङ्घर्ष ने उन्नीसवी शताब्दी के साहित्य मे एक निर्णयात्मक महत्व प्राप्त कर लिया था। यथार्थवाद वेदना से निवृत्ति नही स्वीकारता। मानव जीवन की कुण्ठाएं, वर्जनाएँ एव असन्तोषप्रद स्थितियो को भयङ्करता से यथार्थवाद कभी मुख नही मोडता वरन् उनका साहस के साथ चित्रण करता है। वह मानव की अखण्डता पर तो विश्वास करता है, पर आदर्शवादियो की भाँति उसे देवता नही बना देता। मनुष्य कुरूपताओ एव विशेषताओ का परस्पर समन्वित रूप ही है। यथार्थवाद इसी समन्वय के दोनो पक्षो पर समान बल देता है और सत्य स्थिति के चित्रण मे हिचकता नही।

यथार्थवाद की मध्यवित्तीय सौन्दर्यवादी समस्या पूर्ण मानव-व्यक्तित्व ने उपयुक्त प्रस्तुतीकरण से सम्बन्धित है। किन्तु जैसा कि कला के प्रत्येक अधिकृत दर्शन मे होता है, वैसे ही यथार्थवाद मे भी सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण का क्रमागत अनुसरण शुद्ध सौन्दर्यवादी स्तर तक मार्ग प्रशस्त करता है। जैसा की पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है, यथार्थवाद दर्शन से घनिष्ठ रूप मे सम्बन्धित है। यथार्थवाद रूप (Form) को अस्वीकृत करता है और मानव की सौन्दर्य प्रभावित प्रवृत्ति (Aesthetic Nature) को चुनौती देता है। यथार्थवाद कला को सममामयिकता प्रदान करने और चिरस्थायी बनाने मे महत्वपूर्ण योगदान देता है। वह कला के क्षेत्र मे आदर्शवादी प्रवृत्तियो को अस्वीकृत कर सृजन-प्रक्रिया के लिए नवीन और सामयिक सामग्री के प्रस्तुतीकरण एव सम्पूर्ण मानवीय व्यक्तित्व के चित्रण मे सहायक होता है।

प्रत्येक महान् एतिहासिक युग नवीन क्रान्तियो, भावनाओ एव विचारो से उद्भूत होता है। युग की माँग प्राचीनता एव रूढ़िवादिता का विरोध तथा नवीनता एव प्रगतिशीलता का आह्वान करना होता है। युग मे प्राचीन मानव तिरस्कृत होता है, नवीन मानव विदित होता है। एक ऐसी नवीन सामाजिक चेतना एव रूप विधान का उदय होता

है, जो नव-निर्माण की भावना से ओत-प्रोत होती है और वह
प्रेरणादायक मार्ग का अनुगमन कर अग्रसर होती है। ऐसी स्थि
मे साहित्य का उत्तरदायित्व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो जाता है। साहि
का दायित्व भी वस्तुत. निर्माण का होता है, विध्वंस का नहीं। विध
सक-साहित्य, साहित्य की संज्ञा से किन्ही भी परिस्थितियों में अभि
नही किया जा सकता, उसे चाहे कुछ और भले ही कह दिया जाये
सत्य, शिवम् और सुन्दरम् की भावना साहित्य का मूलमन्त्र होती है
अत: कठिन निर्माणाधीन और नवोन्मेष की भावना से प्रेरित युग
केवल मात्र महानता एवं सत्यता से प्रेरित यथार्थवाद ही साहित्य के
दायित्व को पूर्ण कर सकता है, कोई अन्य साहित्यिक परम्परा नहीं

यथार्थवाद समाज की प्रमुख एव ज्वलन्त समस्याओ को ही अप
चित्रण के लिए चुनता है और समकालीन पीडाग्रस्त मानवीय घुट
कुण्ठाओ एव वर्जनाओ आदि के यथार्थ एव सत्यान्वेषण की साहसप्र
प्रवृत्ति के अनुगमन मे ही उसकी लेखकीय स्थिति सुदृढ रहती है। म
समकालीन पीडाग्रस्त मानवीय घुटन और कुण्ठाएँ इनके प्रेम एव घृ
की दिशाएँ एव उद्देश्य निश्चित करती है और इन्ही भावनाओं
माध्यम से वह यह भी निश्चित करती है कि वे अपने काव्यात्मक दृ
विन्दु (Poetic vision) मे इन समस्याओ को क्या और कैसे देख
एव निर्धारित करते हैं। इसीलिए इस प्रक्रिया मे उनके चेतनशील सुनि
गत दृष्टिकोण के सन्दर्भ मे ही उनकी सृष्टि से सम्बन्धित विचार-प्रक्रि
निर्मित होती है और उनके विचारो की वास्तविक गहनता महत्त्वपू
युगीन समस्याओ से उनके गहन सम्बन्ध और लोगो की घुटन, आग
पीडन एव विवादो से उनकी हार्दिक सहानुभूति उनके चरित्रों के निर्मा
एवं निर्वाह मे ही उपयुक्त ढङ्ग से मुखरित हो सकती है। इसी आधार
भूमि पर महान् यथार्थवाद और लोकप्रिय मानवतावाद का समन्व
स्थापित होता है। यह सत्य है कि प्रत्येक महान् यथार्थवादी लेख
युगीन समस्याओ, मानवीय उत्पीड़न एव कुण्ठाओं तथा वर्जनाओं क

मान ढङ्ग से सोचता, समझता एव मनन करता है, फिर अपने ढङ्ग के अन्तर्चिन्तन से उनको उपन्यासो के माध्यम से प्रस्तुत कर अपने ही ढङ्ग से उनका समाधान भी प्रस्तुत करता है। वह किन्ही नियन्त्रित शक्तियों से बाध्य नही होता और समस्याओ को ग्रहण करने, मनन, चिन्तन एव प्रस्तुतीकरण के ढङ्ग तथा समाधान के सम्बन्ध मे वह पूर्ण स्वतन्त्र रहता है। इस पर उसके कलात्मक व्यक्तित्व का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। किन्तु लेखको मे परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाली इस भिन्नता के बावजूद भी समानता है। ये सभी लेखक अपने समकालीन सङ्कटो एव समस्त मानवीय उत्पीड़न से मुंह नही मोड़ते वरन् जटिल समस्याओ की गहराई मे पैठ कर यथार्थ के वास्तविक सत्यो का उद्घाटन करते हैं। इस समूचे युग मे कोई भी लेखक तभी महानता का अधिकारी हो सकता है, जब वह दिन प्रतिदिन के जीवन की लहरो के साथ सचेतना एव ईमानदारी से सङ्घर्षरत हो। वह इसीलिये क्योकि यथार्थवाद की दृष्टि तथ्यात्मक है। तथ्य विज्ञान पर आधारित होते हैं और इन्ही तथ्यो का अन्वेषण करना यथार्थवाद की मुख्य प्रवृत्ति रही है।

प्रश्न उठता है कि सामाजिक अन्तरसम्बन्धो को कैसे प्रस्तुत किया जाय ? सामाजिक अन्तरसम्बन्धो का ठोस प्रस्तुतीकरण तभी सम्भव है, जब उन्हे ऐसे उच्च स्तर तक उठाया जा सके, जिससे 'विभिन्न रूप' अर्थात् अङ्गो की एकता (Unity of Diversity) के रूप मे अन्वेषित और प्राप्त किया जा सके, जैसा कि कार्ल मार्क्स का कहना है। आधुनिक यथार्थवादी, जिन्होने बुर्जुआ आदर्शवादी दृष्टिकोण के पतन के फलस्वरूप सामाजिक अन्तरसम्बन्धो से सम्बद्ध अपनी ज्ञान-चेतना को खो दिया है और इसके साथ उनकी अमूर्तिकरण की शक्ति सामाजिक पूर्णता और उसके वास्तविक उद्देश्यो एव निर्णयात्मक विचारो के चित्रण का असफल एव विद्रूप प्रयत्न करती है।

यथार्थवाद की सबसे बड़ी शर्त एव माँग है कि लेखक बिना किसी

करने में उनके मार्ग में किसी प्रकार का अवरोध नहीं उपस्थित होगा। किन्तु यहाँ इस तथ्य को पुनः स्पष्ट कर देना उचित होगा कि यह किसी और सृष्टिगत दृष्टिकोण से सम्बद्ध नहीं है। सामाजिक आन्दोलन से प्रेरित काल्पनिक चित्रण, जो ऐतिहासिक रूप से अनिवार्य है, लेखक को वस्तुगत सत्य के साथ सामाजिक यथार्थ का चित्रण करने में रोकता नहीं।

समकालीन सामाजिक उत्पीड़न, कुण्ठाएँ एवं वर्जनाएँ तथा समाज की ज्वलन्त समस्याएँ लेखक को इन सब का प्रत्यक्षतः अनुभव करना चाहिए या जो कुछ भी वह चित्रित करता है, उनका उस पर्यवेक्षण मात्र करना चाहिए—ये प्रश्न मात्र कला के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है इसका सम्बन्ध सामाजिक यथार्थ से लेखक के पूर्ण सम्बन्ध से भी है। पहले के लेखक स्वयं सामाजिक संघर्षों में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेने वाले व्यक्ति थे और उनका लेखकीय व्यक्तित्व या तो इसी संघर्ष का एक भाग होता था, या अपने समय की गहन समस्याओं की प्रतिकृति या सैद्धान्तिक एवं साहित्यिक समाधान होता था। यदि यथार्थ के सम्बन्ध में लेखक केवल पर्यवेक्षक का पद ग्रहण कर लेता है तो इसका अभिप्राय यह है कि वह बूर्जुआ समाज का आलोचनात्मक मूल्यांकन करता है और प्रायः उससे घृणा एवं निराशा से मुख मोड़ लेता है। इस प्रकार नवीन ढङ्ग का यथार्थवादी लेखक साहित्यिक अभिव्यक्ति के विरुद्ध के रूप में परिणत हो जाता है, जो वर्तमान सामाजिक जीवन के चित्रण को अपनी विशेषता बना लेता है।

इन तथ्यों से यह निष्कर्ष सरलता से प्रतिपादित किया जा सकता है कि यथार्थवाद के प्राचीन स्कूल की तुलना में आज का नवीन अधिक निर्वाचित और सीमित जीवन सामग्री का उपयोग करता है। अगर नवीन यथार्थवाद जीवन की कुछ विशेष बातों को ही चित्रित करना चाहता है, तो वह अपने मार्ग से थोड़ा हटकर उन्हें [illegible] देखने और अनुभव करने का प्रयत्न करेगा। स्पष्ट है, [illegible]

समस्याओं को स्वयं समझने, मनन करने और तब उनका मूल्याङ्कन करने तथा निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न करेगा और यदि लेखक सच-मुच प्रतिभाशाली एवं मौलिक है, वह उनमें मौलिक तत्वों के अन्वेषण के प्रति प्रयत्नशील होगा और मौलिक ढङ्ग से पर्यवेक्षित विस्तारों को वह अत्यन्त उच्च स्तर पर साहित्यिक अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न करेगा। किसी साहित्यिक रचना की वास्तविक कलात्मक पूर्णता उसके द्वारा अनिवार्य सामाजिक तत्वों के चित्रण की पूर्णता पर निर्भर होती है। दूसरे शब्दों में यह मात्र लेखक के स्वयं के सामाजिक समस्याओं के अनुभव पर आधारित होती है। इस प्रकार के अनुभवों के माध्यम से अनिवार्य सामाजिक तत्वों के रहस्योद्घाटन और उनके चारों तरफ की समस्याओं का स्वतन्त्रतापूर्वक एवं स्वाभाविक ढङ्ग से कलात्मक प्रस्तुतीकरण सम्भव हो सकता है। महान यथार्थवादी लेखकों की रच-[illegible] इसी सत्य पर आधारित है कि वे स्वयं [illegible] और विकास करते हैं और उनका [illegible] लेखक द्वारा जोड़े जाने वाले सामाजिक [illegible]

है प्रति उसकी आस्था रहती है। यथार्थवाद जीवन के सत्य को चित्रित करता है और उन जीवन सत्यों में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रखता। यथार्थवाद रचना में सूक्ष्मता की ओर उन्मुख होता है और परिवर्तनशील परिस्थितियों तथा वैचारिक दृष्टिकोणों से प्रेरणा ग्रहण कर कला को नवीन वातावरण में गतिशील करता है। यथार्थवाद व्यक्ति को समाज का अभिन्न अङ्ग स्वीकार कर उसकी अखण्डता के प्रति आस्थावान् है। वह व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता एवं समाज निरपेक्ष अस्तित्व को अस्वीकार करता है। प्रतिभा के अभाव में यथार्थवादी चित्रण एक विद्रूप बन जाता है और कलात्मकता का अभाव उसकी विशेषताओं को न्यून कर देता है।

नई कहानी में यथार्थवाद के प्रति विशेष आग्रह है क्योंकि कल्पित असम्भाव्य स्थितियों एवं बने-बनाए साँचे में चीजों को फिट कर देने की यांत्रिक प्रवृत्ति को उसने तिरस्कृत किया है और कहानी को जीवन के अधिक निकट आने में सहायता दी है। यह विशेष तथ्य पिछले दो दशकों की कहानियों से उसे भिन्नता प्रदान करती है, जिसे यथार्थवाद के व्यापक परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकित किया जाना चाहिए। पिछले दौर में, जहाँ जीवन के प्रति कोई दृष्टि ही नहीं थी और यदि थी, तो अस्वस्थ, दिग्भ्रमित एवं विघनकारी प्रवृत्तियों के प्रति मोहासक्त – वहाँ यथार्थवाद का कोई विशेष महत्व नहीं था क्योंकि वहाँ 'नीलम देश की राजकन्या' की 'पाजेब' खोजी जाती है, या 'डायरी के नीरस पृष्ठ' में पठार का धीरज' कल्पित होता है। स्वातन्त्र्योत्तर काल में जीवन के प्रति जिस नई दृष्टि का विकास हुआ, उसमें यह अत्यन्तावश्यक था कि मनुष्य को उसके यथार्थ परिवेश में देखने और समझने की प्रवृत्ति विकसित हो। इसे 'हरिनाकुश का बेटा', 'यह मेरे लिए नहीं' (धर्मवीर भारती), मर्दी', 'जंगल' (मोहन राकेश), 'श्रीमती मास्टन', 'वह मर्द थी' (नरेश मेहता), 'दिल्ली में एक मौत', 'ऊपर उठता हुआ मकान' (कमलेश्वर), 'पासफेल', 'मरने वाले का नाम' (राजेन्द्र यादव), 'सन्दन

की एक रात', 'मायादर्पण (निर्मल वर्मा), 'असमय हिलता हाथ', 'ज़िन्दगी और जोंक' (अमरकांत),'हंसा जाई अकेला', 'घुन' (मार्कण्डेय), 'चीफ़ की दावत', 'सिर का सदका' (भीष्म साहनी), 'ज़िन्दगी और गुलाब के फूल (उषा प्रियवदा), आकाश के आईने में' (मन्नू भण्डारी), 'बादलों के घेरे' (कृष्णा सोबती) आदि कहानियों से स्पष्ट किया जा सकता है। १९६० के बाद के दशक में भी यह प्रवृत्ति 'पेन्स के इधर और उधर' (ज्ञानरंजन),'बड़े शहर का आदमी' (रवीन्द्र कालिया), 'सायों की नदी' (योगेश गुप्त), 'पावों खड़ा प्यार' (अनन्त). 'मुर्दा औरतों की झील' (जगदीश चतुर्वेदी), 'ट्रैम्पोलीना' (राजेन्द्र जगोता), 'छिटकी हुई ज़िन्दगी' (ममता अग्रवाल) आदि कहानियों में विकसित हुई है।

सामाजिक यथार्थवाद (Socialist Realism), समाज और उसकी समष्टिगत चेतना से सम्बन्धित है। यह सामाजिक जन-क्रान्तियों से अधिक अंशों में प्रेरित रहता है। उन्नीसवीं शताब्दी का लगभग सम्पूर्ण रूसी साहित्य यथार्थ को सामाजिक सन्दर्भ में ही चित्रित कर गतिशील होता है। इस प्रकार सामाजिक यथार्थवाद में समष्टिगत चेतना का उन्मीलन होता है। इसके पर्याय के रूप में इतिहास अवस्थित है। सामाजिक और समाजवादी में अन्तर है। सामाजिक से एक पग आगे समाजवादी कला का एक रूप है, जिसमें जन-मन के स्पन्दनों के संस्पर्श से रूप (Form) का आविर्भाव होता है। समाजवाद इसी जन-मन को रूप के आश्रय एवं स्रोत के रूप में ग्रहण करता है। व्यष्टि मन जन-मन की एक लघु लहर के रूप में ही है, जिसका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व

नहीं है। सामाजिक यथार्थवाद सौन्दर्य की स्थिति वस्तु मे स्वीकार करता है।

सामाजिक यथार्थवाद वास्तविक चित्रण के साथ सामाजिक संघर्षों के चित्रण पर बल देता है। उद्देश्यवादिता, सामाजिक समग्रता और ज्ञान के प्रकार के रूप मे कल्पनात्मक रचना की स्वीकृति का परस्पर समन्वय ही वास्तव मे सामाजिक यथार्थवाद है। इसका मूल मन्त्र 'संघर्ष' है। बूर्जुआ और पूँजीवादी-वर्ग शोषण मे विश्वास रखता है और शोषण के मार्ग पर ही गतिशील होता है। शोषित लोगो की भावनाएँ, उनके स्वप्न, इच्छाएँ सभी कुछ उनकी स्थिति की दयनीयता, विवशताजन्य परिस्थितियो तथा वर्ग-वैषम्य के परिणामस्वरूप उत्पन्न आर्थिक दासता के कारण मूल्यहीन हैं। इसीलिये उनके हाथ मे कोई अधिकार नही है। प्रकृति ऐसा नही चाहती, पर शोषण वर्ग ऐसा जबर्दस्ती करने का प्रयत्न करता है। अत साहित्य को चाहिये कि वह ऐसे संघर्ष को बल प्रदान करे और इस शोषण एव शोषक वर्ग का नाश करे तथा प्रकृति की अवरोधक शक्तियो को समाप्त करे। यह दायित्वपूर्ण कार्य वास्तव मे सामाजिक यथार्थवाद ही करता है जो संघर्ष के पथ पर अग्रसर कर समाजवादी मानवतावाद (Socialist Humanism) के निकट ले चलता है। सामाजिक यथार्थवाद इस तथ्य को अस्वीकार करता है कि मनुष्य की जीवन-प्रक्रिया कई स्तरो पर गतिमान् रहती है और उसका अन्वेषण कई आयामो मे होता है। वह मनुष्य के आत्मान्वेषण को मात्र बूर्जुआ भ्रान्ति के रूप मे स्वीकारता है और इतिहास की अनिवार्यताओ की पूर्ति के साधन के रूप मे मूल्याङ्कित करता है। समाजवादी यथार्थवाद व्यक्ति को समष्टि की एक सामान्य इकाई के रूप मे स्वीकार करता है और इसकी वर्गाश्रित प्रवृत्तियो की समीक्षा करता है। मनुष्य की वैयक्तिकता को वह नही स्वीकारता।

समाजवादी यथार्थवाद साहित्य और कला मे यथार्थवादी चित्रण पर बल देता है। वह मानवीय शक्तियों के विकास के प्रति आग्रहशील

और अवचेतन मन की अतृप्त कामनाओं, कुण्ठाओं एवं वर्जनाओं से प्रेरणा ग्रहण कर तृप्ति के अन्वेषण के प्रति प्रगतिशील होना है। यह अवचेतन मन चेतन की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होता है और प्रत्येक नियन्त्रण एवं सीमाओं को अस्वीकृत कर देता है। पर मनुष्य जीवन जीने के लिये मर्यादाओं एवं अनुशासन का पालन करना होता है। अवचेतन मन के लिये सभ्यता, संस्कृति एवं श्लीलता अर्थहीन होते हैं, पर चेतन मन के लिये यही प्रवृत्तियाँ अनिवार्य होती हैं। इस प्रकार एक विरोधाभास एवं कटुता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसका प्रकाशन मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद करता है। यह मनुष्य की परिकल्पना व्यक्ति रूप में करके उपचेतन और अचेतन मन की जटिल एवं विषम ग्रन्थियों को सुलझाने का कार्य करता है, पर इससे सबसे बड़ी हानि यह हुई कि मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद ने मानव को अर्द्ध-विक्षिप्त, कामनातुर और मानसिक विकारों में ग्रस्त रोगी के रूप में परिणत कर लिया और जीवन के अशोभन एवं अवाञ्छनीय तत्वों के चित्रण पर बल दिया जाने लगा। जहाँ तक मानवीय स्वभाव का प्रश्न है, मनुष्य जैसा है, उसे स्वीकार करने में न तो किसी को आपत्ति होनी चाहिए और न ही उस पर किसी को लज्जा होनी चाहिये। यह सत्य है कि आधुनिक युग में कोई भी मनुष्य स्वयं में पूर्ण नहीं है। सभी भीतर से टूटे हुए हैं [illegible] है। सभी की आस्थाएँ खण्डित हैं, सभी के विश्वास [illegible] है। यह भी सत्य है कि मनुष्य में वासना है [illegible] है, [illegible] है। [illegible] इसमें कुण्ठित नहीं है और इस स्वीकार [illegible] होगा। यथार्थवाद की रक्षा के नाम पर [illegible] चित्रण पर भी किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए। [illegible] यथार्थवाद के नाम पर यथार्थवाद की रक्षा [illegible] चित्रण करने [illegible] मनुष्य की [illegible] इच्छाओं एवं उनके दमन से उत्पन्न [illegible] चित्रण किया जाना सकता है और [illegible]

है। यह मानवीय प्रगति की अवरोधक शक्तियों का रहस्योद्घाटन करता है। उसका कार्य अतीतकाल का व्याख्यात्मक चित्राङ्कन मात्र ही नहीं, अपितु वर्तमान की क्रान्तिकारी सफलताओं को एक सूत्र में आबद्ध करने मे सहायक होना एव भविष्य के लिए महान् समाजवादी उद्देश्यों का स्पष्टीकरण करना भी है। समाजवादी यथार्थवाद व्यापक दृष्टिकोण को अपनाता है और इसकी क्षमता उन्ही लेखकों मे व्याप्त हो सकती है, जो वर्तमान को भविष्य के सन्दर्भ मे मूल्याङ्कित कर सकने में समर्थ हैं। यही दृष्टिकोण वास्तव मे समाजवादी यथार्थवाद की आधारशिला होनी चाहिये। उसकी विशेषता दूरदर्शिता मे ही प्रमुख रूप से निहित है। वह भविष्य के प्रति अत्यधिक आस्थावान् एव मानव-जीवन की अखण्डता के प्रति निष्ठावान् है। वास्तव मे समाजवादी यथार्थवाद अतीत की व्याख्या, वर्तमान का मनन-चिन्तन एव भविष्य के प्रति दूरदर्शिता की शक्ति अपनाने पर बल देता है। समाजवादी यथार्थवाद को अमरकान्त, मार्कण्डेय, भीष्म साहनी, श्रीमती विजय चौहान आदि कहानीकारों ने चित्रित करने का प्रयत्न किया है।

मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद (Psychological Realism) यद्यपि बाह्य जगत् की सत्ता को अस्वीकार नहीं करता, तथापि मानवीय अन्तर्जगत्, उसकी बौद्धिकता एवं भावनात्मकता को ही अधिक बल प्रदान करता है। वह व्यष्टि चेतना की गहनता की माप एव चेतन मन के आधारभूत उपचेतन एव अवचेतन मन का रहस्योद्घाटन करता है। मानवीय चेतन मन दुर्बल एव शक्तिहीन है। वह प्रगतिशील जीवन के परिस्थितिजन्य बन्धनो की शृंखलाओ को विच्छिन्न करना चाहता है

और अवचेतन मन की अतृप्त कामनाओ, कुण्ठाओ एव वर्जनाओ से प्रेरणा ग्रहण कर तृप्ति के अन्वेषण के प्रति प्रगतिशील होता है। यह अवचेतन मन चेतन की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होता है और प्रत्येक नियन्त्रण एव सीमाओ को अस्वीकृत कर देता है। पर मनुष्य जीवन जीने के लिये मर्यादाओ एव अनुशासन का पालन करना होता है। अवचेतन मन के लिये सभ्यता, सस्कृति एव श्लीलता अर्थहीन होते हैं, पर चेतन मन के लिये यही प्रवृत्तियाँ अनिवार्य होती हैं। इस प्रकार एक विरोधाभास एव कटुता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसका प्रकाशन मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद करता है। यह मनुष्य की परिकल्पना व्यक्ति रूप मे करके उपचेतन और अचेतन मन की जटिल एव विषम ग्रन्थियो को सुलझाने का कार्य करता है, पर इससे सबसे बडी हानि यह हुई कि मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद ने मानव को अर्द्ध-विक्षिप्त, कामलोलुप और मानसिक विकारो से ग्रस्त रोगी के रूप मे परिणत कर दिया और जीवन के अशोभन एव अवाञ्छनीय तत्वों के चित्रण पर बल दिया जाने लगा। जहाँ तक मानवीय स्वभाव का प्रश्न है, मनुष्य जैसा है, उसे स्वीकार करने मे न तो किसी को आपत्ति होनी चाहिये और न ही उस पर किसी को लज्जा होनी चाहिये। यह सत्य है कि आधुनिक युग मे कोई भी मनुष्य स्वय मे पूर्ण नही है। सभी भीतर से टूटे हुए है, बिखरे हुए है। सभी की आत्माएँ खण्डित है, सभी के विश्वास जर्जरित है। यह भी सत्य है कि मनुष्य मे वासना है, पाप है, घृणा है। कोई मनुष्य इससे वञ्चित नही है और इसे अस्वीकार करना सत्य से मुख मोडना होगा। यथार्थवाद की रक्षा के नाम पर कथा-साहित्य मे इनके चित्रण पर भी किसी को आपत्ति नही होनी चाहिये। पर जब मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद के नाम पर यथार्थवाद की रक्षा एव सत्यानुभूति से प्रेरित चित्रण करने के बहाने मनुष्य की अन्य इच्छाओं को छोड, मात्र काम इच्छाओ एव उनके हनन से उत्पन्न होने वाले 'दुष्परिणामो' का 'रसमय' चित्रण किया जाने लगता है और कथा-साहित्य के नाम कामशास्त्र की

अति-यथार्थवाद (Sur-realism) हृदय की भावनात्मक गति का तिनिधित्व करता है। यह बौद्धिकता के विरुद्ध है किन्तु साथ ही वुकता के प्रति भी आग्रहशील नहीं है। यदि अति यथार्थवाद को ोई पीछे उसके आधारभूमि तक ले जाना चाहे तो वहाँ वे मूलभूत त्त्व प्राप्त होंगे जिस पर किसी भी उपयोगी भित्ति का निर्माण किया ा सकता है। वे मूलभूत तत्त्व प्राकृतिक विज्ञान और मनोविज्ञान से म्बन्धित है। अति-यथार्थवाद की यदि कोई दार्शनिक उपपत्ति अतीत ाल में कहीं प्राप्त होती है, तो वह हीगल मे ही। फ्रायड के अनुसार चेतना के स्पन्दन गम्भीर कामनाओं के रूप में प्रस्फुटित होते है और ुण्ठाजन्य परिस्थितियाँ, पीड़ाएँ, असन्तोष एवं अतृप्त वासनाएँ उन्माद के रूप में परिणत हो जाती हैं, जिससे एक नये वाद का जन्म होता है, जो अति-यथार्थवाद है। वस्तुत यह और कुछ नही, यथार्थवाद का चरम रूप ही है। यह रूप-विन्यास आदि को चेतन मन की कार्य-प्रक्रिया स्वीकार करता है। चेतन मन, अवचेतन मन की तुलना मे दुर्बल और शक्तिहीन है। अचेतन मन किसी भी प्रकार के बन्धन, नियन्त्रण या सीमाओं को नहीं स्वीकार करता। नैतिकता, भय, लज्जा तथा सङ्कोच उसके लिये महत्त्वहीन होते है। इस प्रकार एक असङ्गति (Disharmony) की स्थिति उसे प्रिय है। काम (Libido की अतृप्ति प्रायः सामान्यजनो मे होती है और अवचेतन मे उनके विस्फोट की सम्भावना बराबर बनी रहती है। इस प्रकार एक असन्तुलन (Imbalance) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यह असङ्गति और असन्तुलन ही अति-यथार्थवाद के दो आधारभूत स्तम्भ हैं। यह मनुष्य के अवचेतन मन से ही विशेष रूप से सम्बन्धित है।

अति-यथार्थवादियों के अनुसार आदर्श अर्थहीन होते है। ठीक उसी प्रकार, जैसे कि मानवीय चेतन द्वारा छायाङ्कित यह भौतिक-जगत्। अति-यथार्थवाद किसी नैतिक परम्परा के प्रति श्रद्धावान् नहीं है और क्लासिकल तथा पूंजीवादी परम्पराओं को तो बिल्कुल ही तिरस्कृत

रचना होने लगती है, तो यह आपत्तिजनक होता है। साथ ही साहित्य की श्रेष्ठता एवं गौरव के लिये कलङ्कपूर्ण भी है। दुःख तो तब होता है, जब ऐसे गोपनीय स्थलों के चित्रण में लेखक साङ्केतिकता छोड़ विवरणात्मकता पर उतर आता है और वह यह भूल जाता है कि साहित्य रचना के भी कुछ नियम (Code) और सीमाएँ (Limitations) हैं, जिनका पालन करना श्रेष्ठ साहित्य के लिये अनिवार्य है।

मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद आत्मोपलब्धि पर तो बल देता है, पर उसकी सृजन प्रक्रिया में आत्मान्वेषण का मार्ग अत्यन्त सीमित, सङ्कीर्ण एवं विषमताओं से पूर्ण है। वह मनुष्य के आत्मतत्व को पूर्व निश्चित, पशुधर्मी और अनिवार्यत: विकृत प्रवृत्तियों से परिपूर्ण स्वीकार करता है, इसीलिये मनुष्य अत्यन्त घृणास्पद चित्र उपस्थित करने में मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद सहायक होता है। 'सावित्री नं० २' (धर्मवीर भारती), 'ज़ख्म' (मोहन राकेश), 'अनबीता व्यतीत' (नरेश मेहता), 'तलाश' (कमलेश्वर), 'नए-नए आने वाले' (राजेन्द्र यादव), 'तीसरा आदमी' (मन्नू भण्डारी), 'मछलियाँ' (उषा प्रियंवदा), 'दहलीज़' (निर्मल वर्मा), 'ट्यूमर' (श्रीकान्त वर्मा) आदि ऐसी कहानियाँ हैं, जिनमें मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद का संयमित एवं संतुलित चित्रण प्राप्त होता है। इन कहानियों को अज्ञेय, जैनेन्द्र और इलाचन्द्र जोशी की पिछले दौर की किसी भी कहानियों के कन्ट्रास्ट में देखा जा सकता है और नई कहानी की विभाजन रेखा को स्पष्टत: अंकित किया जा सकता है।

अति-यथार्थवाद (Sur-realism) हृदय की भावनात्मक गति का प्रतिनिधित्व करता है। यह बौद्धिकता के विरुद्ध है किन्तु साथ ही भावुकता के प्रति भी आग्रहशील नही है। यदि अति यथार्थवाद को कोई पीछे उसके आधारभूमि तक ले जाना चाहे तो वहाँ वे मूलभूत तत्त्व प्राप्त होंगे जिस पर किसी भी उपयोगी भित्ति का निर्माण किया जा सकता है। वे मूलभूत तत्त्व प्राकृतिक विज्ञान और मनोविज्ञान से सम्बन्धित हैं। अति-यथार्थवाद की यदि कोई दार्शनिक उपपत्ति अतीत काल मे कही प्राप्त होती है, तो वह हीगल मे ही। फ्रायड के अनुसार चेतना के स्पन्दन गम्भीर कामनाओ के रूप मे प्रस्फुटित होते है और कुण्ठाजन्य परिस्थितियाँ, पीडाएँ, असन्तोष एव अतृप्त वासनाएँ उन्माद के रूप मे परिणत हो जाती हैं, जिससे एक नये वाद का जन्म होता है, जो अति-यथार्थवाद है। वस्तुत यह और कुछ नही, यथार्थवाद का चरम रूप ही है। यह रूप-विन्यास आदि को चेतन मन की कार्य-प्रक्रिया स्वीकार करता है। चेतन मन, अवचेतन मन की तुलना मे दुर्बल और शक्तिहीन है। अचेतन मन किसी भी प्रकार के बन्धन, नियन्त्रण या सीमाओं को नही स्वीकार करता। नैतिकता, भय, लज्जा तथा सङ्कोच उसके लिये महत्त्वहीन होते हैं। इस प्रकार एक असङ्गति (Disharmony) की स्थिति उसे प्रिय है। काम (Libido की अतृप्ति प्राय. सामान्यजनो मे होती है और अवचेतन मे उनके विस्फोट की सम्भावना बराबर बनी रहती है। इस प्रकार एक असन्तुलन (Imbalance) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यह असङ्गति और असन्तुलन ही अति-यथार्थवाद के दो आधारभूत स्तम्भ हैं। यह मनुष्य के अवचेतन मन से ही विशेष रूप से सम्बन्धित है।

अति-यथार्थवादियों के अनुसार आदर्श अर्थहीन होते है। ठीक उसी प्रकार, जैसे कि मानवीय चेतन द्वारा छायाङ्कित यह भौतिक-जगत्। अति-यथार्थवाद किसी नैतिक परम्परा के प्रति श्रद्धावान् नही है और क्लासिकल तथा पूंजीवादी परम्पराओं को तो बिलकुल ही तिरस्कृत

करता है। यह इस बात को स्वीकार करता है कि प्रतिभाशाली व्यक्ति अपनी शैक्षणिक परम्पराओं और सामाजिक वातावरण, नैतिक मान्यताओं एवं सांस्कृतिक विश्वासों के कारण शोषित एवं खण्डित होते हैं। इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी स्पष्ट किया जा सकता है। एक व्यक्ति अत्यन्त शिक्षित, शिष्ट एवं गम्भीर (Sober) है। वह सभ्यता एवं संस्कृति में भी पूर्ण विश्वास रखता है। पर इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वह आन्तरिक रूप से भी वैसा ही है, जैसा कि वह बाह्य रूप से है। अपनी सम्पूर्ण सामाजिक स्थिति की रक्षा के लिये उसे अपनी अनेक इच्छाओं, कामनाओं एवं यहाँ तक कि वासनापरक इच्छाओं का भी दमन करना पड़ता है। व्यक्ति तो यह समझता है कि उसने इनका दमन कर दिया, पर वस्तुस्थिति ऐसी है नहीं। वे सभी अवचेतन मन में संग्रहीत होती रहती हैं और उनके विस्फोट की सम्भावना वहाँ बराबर बनी रहती है। अति-यथार्थवाद, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, इसी अवचेतन से सम्बन्धित है, जो व्यक्ति को शोषित, खण्डित और गुमराह करता है। साम्यवाद की भाँति अति-यथार्थवाद भी यह आग्रह नहीं करता कि कलाकार अपनी वैयक्तिकता का परित्याग करे, पर वह इस बात पर बल देता है कि *कलाकारों के बीच सामान्य समस्याएँ हैं,* जिनका उन्हें समाधान करना है और सामान्य खतरे में हैं, जिनसे उन्हें बचना है।

पर अति-यथार्थवाद ने असन्तुलन एवं असङ्गति के ऐसे वीभत्स एवं घृणास्पद चित्र उपस्थित किये कि मानव मात्र विकृतियों का पुतला बन गया। फलस्वरूप अति-यथार्थवादी स्कूल पर अनेक दोषारोपण किये जाने लगे और उनके उत्तर भी दिये गये। पर सबसे भीषण आरोप यह किया गया कि अति-यथार्थवाद हिंसा और न्यूरोटिक प्रवृत्तियों को प्रश्रय देता है। वह वर्तमान नैतिकता को तिरस्कृत करता है, क्योंकि उसके विचार से वह रूढ और आडम्बरयुक्त है। वह प्रेम और स्वतन्त्रता पर आधारित नैतिकता को प्रमुखता प्रदान करता है। उसके विचार से

ज की मानवता और कुछ नही पाप है। वह ऐसी नैतिकता से घृणा
रता है क्योंकि वह एक आडम्बर है और अधिकांश व्यक्ति अपूर्ण ही
न्म लेते है। उनकी रही-सही पूर्णता भी उनकी विषय परिस्थितियो
कारण समाप्त हो जाती है। मानवता के विकास से ही इस पाप
और बुराइयों का निराकरण किया जा सकता है, किन्तु यह हमारा
विश्वास है कि सङ्कुठित नियन्त्रण एवं दमन की सम्पूर्ण प्रणाली, जो
माज की नैतिकता का सामाजिक तत्व है, को मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से
ग़लत समझा जाता है। और यह पूर्णतया हानिप्रद है। अतः संवेगो की
पूर्ण सम्भव स्वतन्त्रता और प्रेम से वह चीज प्राप्त की जा सकती है,
जो किसी विधान या नियन्त्रण से नही प्राप्त हो सकता।

अति-यथार्थवाद किसी भावुक मानवतावाद (Emotional Humanism) से सम्बन्धित नही है। वह अत्यन्त कठोर ढङ्ग से नियन्त्रित मनोवैज्ञानिक है और यदि वह 'प्रेम' और 'सहानुभूति' जैसे शब्दों का प्रयोग करता है,तो इसीलिये कि व्यक्ति के आर्थिक एवं वासनात्मक जीवन के उसके विश्लेषण ने उसे इन शब्दों के शालीनतापूर्वक प्रयोग करने का अधिकार दिया है और इस प्रयोग मे किञ्चित्मात्र भी भावुकता का स्थान नही होता। अति-यथार्थवाद—जो ज्ञान की एक प्रणाली है, फलस्वरूप विजय और सुरक्षा की भी प्रणाली है, मनुष्य की चेतनशीलता का रहस्योद्घाटन करता है। अति-यथार्थवाद यह स्वीकार करता है कि सभी व्यक्तियो मे विचारो की समानता होती है और वह मनुष्य-मनुष्य के मध्य व्यवधान को समाप्त करने का प्रयत्न करता है। भेदभाव या कायरता की किसी सीमा को वह नही मानता कि उसका विचार है मनुष्य अपने आप का अन्वेषण करे, अपने स्वरूप को पहचाने और तभी वह उन सभी निधियो को प्राप्त कर सकने की क्षमता प्राप्त कर सकेगा, जिससे उसे वञ्चित कर दिया गया है और जिसका सञ्चय वह प्रत्येक काल मे करता है। यह सञ्चयन, आत्मपीड़न और घुटन के फलस्वरूप ही हो पाता है, जो अल्प-सख्यक अधिकार प्राप्त लोगो के

प्रकृतवाद (Naturalism) शब्द का प्रथम प्रयोग साहित्य में फ्रेंच
उपन्यासकारों द्वारा किया गया था, जो अपने को फ्लाबेयर का शिष्य
और उत्तराधिकारी मानते थे। यह साहित्य में निराशा के परिणामस्व-
रूप उत्पन्न हुआ है। प्रकृतवाद को ज़ोला और मोपासाँ ने नेतृत्व प्रदान
किया, यद्यपि फ्लाबेयर ने स्वयं अपने को यथार्थवादी या प्रकृतिवादी
मानने से अस्वीकार कर दिया था। वह अपने को फ्रेंच क्लासिस्ट
स्वीकारता था और प्रकृतवाद को 'असमर्थ' बताता था। वह शैली पर
और सौन्दर्यपूर्ण रचना-प्रक्रिया के प्रति चेतनशीलता पर बल देता था।
सम्बन्ध में दो विख्यात समालोचनाएँ प्राप्त होती हैं।—एक मोपासाँ
उपन्यास 'Pierreet Jean' और दूसरे ज़ोला की पुस्तक 'le Roman

Experimental' की भूमिकाओं में। ज़ोला के अनुसार प्रकृतवाद उन परिस्थितियों एवं वातावरण के अनुसार जन्मा था, जो व्यक्ति की पूर्णता एवं सत्ता निश्चित करती है। जो पेंटिङ्ग के क्षेत्र में प्रभाववाद (Impressionism) है, वही समान स्तर पर साहित्य के क्षेत्र में प्रकृतवाद है। जिस प्रकार प्रभाववादी, जिन चीज़ों को जिस वातावरण में जिस प्रकार देखते थे, अपनी चित्रकला में उन्हें उसी रूप में स्थान देते थे। उस पर किसी प्रकार का भी मुलम्मा चढ़ाने या पालिश करने की प्रवृत्ति उनकी कभी नहीं होती थी। ठीक उसी प्रकार प्रकृतवादियों ने साहित्य के क्षेत्र में किया। उन्होंने मनुष्य को उसके वातावरण में ज्यों का त्यों बिना कोई आवरण डाले या श्लीलता-अश्लीलता का ध्यान रखे या लज्जा एवं सङ्कोच का महत्त्व समझे चित्रित कर दिया। प्रकृतवादियों ने वातावरण पर विशेष ज़ोर दिया है, इसीलिये उन्होंने पात्रों के मनोविश्लेषण पर विशेष बल नहीं दिया। यहाँ तक कि मोपासाँ ने तो इसकी सम्भावना तक अस्वीकृत कर दी है। मानव के प्रति इस प्रकार प्रकृतवाद का एक विशिष्ट दृष्टिकोण है, जो लज्जाहीनता, नग्नता, सङ्कोचहीनता, अनैतिकता एवं अनाचार के साथ स्वतन्त्र वासना को प्रश्रय देता है।

प्रकृतवाद में ज्ञान-प्रकाश से युक्त आशावादी आदर्शवाद के ध्वसावशेष मनुष्य की पूर्णता एवं निष्ठा में पूर्ण आस्था, प्रजातान्त्रिक प्रणाली में विश्वास और मानव विकास के प्रति आशा के भाव लक्षित होते हैं। प्रकृतवादियों के लिए समाज कोई अर्थ नहीं रखता। वे इसका खण्डन करते हैं कि आत्मिक विकास से ही अन्तिम पूर्णता प्राप्त होती है। प्रजातान्त्रिक स्वतन्त्रता के सन्दर्भ में उनके लिए विकास भी अर्थहीन है और आदर्श, नैतिकता, सांस्कृतिक उत्थान तथा सृष्टि की आत्मानुभूति उनके लिए शून्य स्वप्नों के समान है और ईश्वर की सत्ता स्वीकार करना हास्यापद है, पर नैतिकता को अर्थहीन स्वीकार कर यह किसी प्रकार की स्वतन्त्रता का नहीं वरन् कुण्ठाजन्य निराशा का प्रतिपादन करता है। यद्यपि उसका आविर्भाव वैज्ञानिक प्रणाली से हुआ है फिर

लिये होता है, जो मानव महानता का प्रतिपादन करने वाले प्रत्येक तत्त्वों से अन्धे और बहरे होते हैं। अति-यथार्थवाद अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर पूर्ण बल देता है और उसे और भी व्यापक बनाने का प्रयत्न करता है। वह मानता है कि मानव और उसकी कार्य-प्रक्रिया अलग नहीं किये जा सकते। वह मनुष्य की स्वतन्त्रता मे विश्वास रखता है और अपने पूर्ण सामर्थ्य से इस उद्देश्य प्राप्ति का प्रयत्न करता है। वह इस प्रक्रिया मे पराजयवाद, गुमराह करने वाली प्रवृत्ति और शोषण का विरोध करता है। हिन्दी में जहाँ तक प्रश्न है, अति-यथार्थवाद की शैली का शुद्धरूप मे प्रयोग किसी कहानी मे नहीं किया गया है। उसका आंशिक प्रभाव राजेन्द्र यादव ने 'एक कटी हुई कहानी' तथा 'प्रतीक्षा' मे, मार्कण्डेय ने 'माही' मे, रमेश बक्षी ने अपनी कई कहानियों में ग्रहण किया है, हालाँकि वे शुद्ध रूप से अति-यथार्थवादी कहानियाँ नहीं हैं।

•

प्रकृतवाद (Naturalism) शब्द का प्रथम प्रयोग साहित्य में फ्रेंच उपन्यासकारों द्वारा किया गया था, जो अपने को फ्लाबेयर का शिष्य और उत्तराधिकारी मानते थे। यह साहित्य मे निराशा के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुआ है। प्रकृतवाद को ज़ोला और मोपासाँ ने नेतृत्व प्रदान किया, यद्यपि फ्लाबेयर ने स्वयं अपने को यथार्थवादी या प्रकृतिवादी मानने से अस्वीकार कर दिया था। वह अपने को फ्रैंको क्लासिस्ट स्वीकारता था और प्रकृतवाद को 'असमर्थ' बताता था। वह शैली पर और सौन्दर्यपूर्ण रचना-प्रक्रिया के प्रति चेतनशीलता पर बल देता था। इस सम्बन्ध में दो विख्यात समालोचनाएँ प्राप्त होती हैं।—एक मोपासाँ के उपन्यास '*Pierreet Jean*' और दूसरे ज़ोला की पुस्तक '*le Roman*

भी प्रकृतवाद की वैज्ञानिक कार्य-प्रक्रिया में कोई आस्था नहीं है। उसके अनुसार प्रत्येक वैज्ञानिक निष्कर्ष मनुष्य की असहायावस्था की ओर संकेत करता है।

प्रकृतवाद किसी धार्मिक परम्परा में विश्वास नहीं रखता और उसके आधारभूत सिद्धान्त प्राकृतिक शक्तियाँ हैं। उसके अनुसार मनुष्य पशुजन्य है, प्रकृति कठोर है। मानव स्वभाव स्वार्थी, निर्दयी और कामुक है। सामाजिक कुरीतियों का कारण मानव स्वभाव और सामाजिक रूढ़ियाँ हैं। जीवन के प्रति प्रकृतवाद का दृष्टिकोण निराशावादी है। यह प्राप्त तथ्यों का ज्यों के त्यों चित्रण के प्रति आग्रहशील है। उसमें प्राकृतिक व्यवस्था का उन्मीलन होता है। ऐतिहासिक रूप से प्रकृतवाद यथार्थवाद की ही एक विकसित शैली है और उसके उचित एवं क्रमागत रूप में ही स्वीकार किया जाता है। इसकी व्याख्या ज़ोला ने १८८० और १८८१ के मध्य प्रकाशित अपने अनेक लेखों में की। ज़ोला का विचार था कि मानव सत्य से बढ़ कर कुछ और नहीं है। वह चाहता था कि कला जीवन के प्रति सत्य हो। उसके लिए कला मनुष्य, जो कि परिवर्तनशील तत्व है और प्रकृति, जो कि अपरिवर्तनीय है, के मध्य होने वाले विवाह के समान है। उसके लिए यथार्थवाद अर्थशून्य था और उसका उद्देश्य था कि यथार्थवाद व्यक्तिवादी स्वभाव के ही आधीन हो। सौन्दर्य की, प्रकृतवाद के अनुसार कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं स्वीकार की जा सकती, वह अनिवार्यतः एक मानवीय तत्व है, अतः कथाकार का दायित्व है कि वह अपने ही समय में अन्वेषित समकालीन सौन्दर्य तत्वों का उद्घाटन करे। वास्तव में प्रकृतवाद एक ऐसे प्रभात के समान है, जो यथार्थवाद से कोसों दूर है और ऐसे कथाकार का यथार्थ कला की सृजन-प्रक्रिया नहीं होती।

प्रकृतवाद में मानवीय व्यवहार सामाजिक वातावरण के कार्य रूप में समझे जाते हैं और व्यक्ति इसकी विशेषताओं का जीवित समूह पुंज समझा जाता है। उसका अस्तित्व इसमें उसी भाँति है, जिस प्रकार

व्यष्टि से समष्टि की ओर गतिशील कर जनमानस मे सर्वव्यापी ढङ्ग से उसका विकास कर कल्याणकारी भावनाओ का विकास करना ही आदर्शवाद का मूल उद्देश्य होता है ।

प्लेटो के अनुसार भावनाओ का जगत् यथार्थ ससार नही है । जिसे हम विचारो की सज्ञा से, विशेषत अवधारणाओ के विचार से अभिहित करते हैं—वही यथार्थ है और गहन एव अधिकाधिक ज्ञान मानवीय चेतना की एकता को पूर्व ज्ञात वस्तुओ से सम्बन्धित करते हैं । प्रतिभाशाली सृष्टि निश्चय ही आदर्शवादी सृष्टि के समानार्थक होनी चाहिए । इस प्रकार प्लेटो का 'आदर्शवादी' ससार ही सत्य ससार है और 'ज्ञान' का मुख्य उद्देश्य ('राय' के विरुद्ध) सदैव ही आदर्शवादी होता है । आदर्श से ज्ञान के उद्देश्यो का आविर्भाव नही होता वरन् इसके माध्यम से सत्य एव अनिवार्य अस्तित्व से भी सम्बन्धित होते है । यहाँ यह तथ्य स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आदर्शवाद वस्तुत दर्शन का ही एक रूप है । आदर्शवाद उस सत्य से अनुप्राणित है, जो समस्त भौतिक जगत मे कुत्सित वृत्तियो के नाश और सात्विक प्रवृत्तियो की विजय उद्घोषित करता है । आदर्शवाद का मूल स्वरूप इन्ही सात्विक प्रवृत्तियो की व्यापकता पर ही निर्मित होता है, जो मानव के चारित्रिक विकास, उसकी चित्तवृत्तियो का एक सामान्य स्तर पर सामूहिक कल्याण की विशद भावना की ओर दिशोन्मुख करने, समष्टि की व्यष्टि पर विजय एव वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना के विस्तार तथा पाप, घृणा एवं असत्य के पूर्णतया नष्ट होने की भावना पर आधारित है ।

अतः आदर्शवाद का मूल स्वर मस्तिष्क एव यथार्थ और चेतना के समन्वय से नही सम्बन्धित है । विश्व की जितनी भी महत्वपूर्ण सभ्यताएँ है, उनकी पृष्ठभूमि मे आदर्शवाद ही क्रियाशील रहा है । वह केवल निर्माण तक ही नही सम्बन्धित है, बल्कि एक कदम आगे बढ़कर वह व्यापक सुधार की अनिवार्यता पर बल देता है और मानवीय आत्मबल के विकास एव मानव सुधार की आवश्यकता सिद्ध करता है । अपनी

कोंश कहानीकार अभी भी संयम, नैतिकता एवं संस्कृति की डोरों से अनेक अंशों में बँधे हुए हैं, यद्यपि उनमें से अनेक की आत्माएँ इन बन्धनों में छटपटा रही हैं और वे इन शृंखलाओं को तोड़फोड़ कर मुक्त हो जाना चाहती हैं। ऐसे कहानीकार समाज में सेक्स सम्बन्धी स्वतन्त्रता, और फलस्वरूप मनुष्य की वासना का रसमय चित्रण कहानियों में करने की स्वतन्त्रता चाहते हैं। हिन्दी साहित्य का वह सबसे कलङ्कपूर्ण एवं अन्धकारपूर्ण दिन होगा, जिस दिन उसकी बागडोर इन तथाकथित कहानीकारों (!) के हाथों में सौंप दी जायेगी और समूची कहानी विधा अपने प्रगतिशील पथ से हटकर महर्षि वात्सायन की वास्तविक 'उत्तराधिकारियों' द्वारा की जाने वाली कामशास्त्रीय रसमय व्याख्याओं से आच्छादित हो जायेगी।

आदर्शवाद की व्याख्या करते समय प्रायः कहा जाता है कि सृष्टि पूर्णरूप से मस्तिष्क की प्रक्रिया है, अथवा उसकी सत्य प्रतिकृति है। मस्तिष्क और मूल्यों के मध्य अविच्छिन्न सम्बन्ध रहते हैं इसीलिए आदर्शवाद को सरलता से मूल्यों के मापानुसार सृष्टि की अभिव्यक्ति कहा जाता है। इसे प्लेटो की धारणानुसार अच्छाइयों का विचार भी कहा जा सकता है। वस्तुतः आदर्शवाद एक ऐसे सिद्धान्त के रूप में ग्रहण किया जा सकता है, जिसके अनुसार इस सृष्टि में इन विशेषताओं को, जो अत्युत्तम, उपयोगी एवं मानवतावादी दृष्टिकोण के अनुकूल स्वीकृत हैं, अत्यन्त व्यापक एवं चरम रूप प्रदान कर विस्तृत पृष्ठभूमि पर निरन्तर उच्च स्थान प्रदान किया जाना चाहिए। उन विशेषताओं को

इसी प्रमुख सृजनात्मकता के कारण वह मात्र मानव जीवन को ही निर्माण एवं विकास की ओर दिशोन्मुख नहीं करता, वरन् प्रत्येक ज्ञान एव दर्शन के मूलस्वर एवं आत्मा का भी स्पष्टीकरण सशक्त स्वरों मे करता है। स्वाभाविक आदर्शवाद जीवन का वह महत्वपूर्ण स्वरूप है, जिसमे मानवीय आत्मा अपने अमरत्व की मांग करती है और मूल्य, मर्यादायुक्त परिवेश में निरन्तर गौरव एवं आत्मसम्मान की रक्षा की दिशा में अग्रसर होती है।

प्रत्येक राष्ट्र, समाज, सस्कृति एवं सभ्यता की प्राचीन मान्यताएँ, परम्पराएँ एव गौरवशाली मर्यादाएँ होती हैं। यद्यपि दृष्टिभेद की स्वाभाविकता के कारण अपनी सभ्यता एव सस्कृति की तुलना मे अन्य राष्ट्रो एव समाज की सभ्यता एव सस्कृति हमे अधिक महत्वपूर्ण न जान पड़े, ऐसा सम्भव हो सकता है। पर हमे यह सदैव ही स्मरण रखना होगा कि प्रत्येक राष्ट्र और समाज अपनी सभ्यता एव संस्कृति को अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा कभी भी मूल्यहीन नही समझता और वहाँ के लेखक अपनी इन्हीं गौरवशाली परम्पराओ एव मर्यादापूर्ण मान्यताओ को अपने साहित्य मे जीवित करने और शताब्दियों तक अग्रसर करने का प्रयत्न करते हैं। कहना न होगा, इस प्रक्रिया मे उपन्यास ही सर्वाधिक सहायक सिद्ध होते हैं। आदर्शवादी कहानीकार अपनी सभ्यता एव सस्कृति की गौरवशाली परम्पराओं एव मर्यादापूर्ण मान्यताओं के प्रति गहन रूप मे आस्थावान् होते हैं और किसी भी रूप में उनका खण्डन-मण्डन, अथवा तिरस्कार एवं अस्वीकृति उन्हें सह्य नहीं होती। वे उनकी महत्ता सिद्ध करने एव उनकी उपयोगिता स्पष्ट करने के लिये ही कथानक का ताना-बाना बुनते हैं और अपने मन्तव्य को तर्कों सहित उपस्थित करते हैं। वे इस सम्बन्ध मे यथार्थ की उपेक्षा करते हैं और उसकी तरफ से आँखें बन्द किये रहते हैं। वस्तुतः यह कुछ और नहीं लेखक का आदर्शवादी ... ही है, जो उसे यथार्थ की कठोर, पर स्वाभाविक भूमि पर ... से रोकती है। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, आदर्शवादी

लेखक समाज में कुत्सित वृत्तियों का पूर्ण नाश और सात्विक प्रवृत्तियों की पूर्ण विजय चाहता है। वह समाज में नैतिकता का पूर्ण उत्थान एवं मङ्गलकारी भावनाओं का पूर्ण प्रसार चाहता है, जिससे समाज निरन्तर सत्पथ पर अग्रसर होता रहे, सभी का जीवन सुखी एवं समृद्ध रहे, सभी को पूर्ण मानसिक शान्ति प्राप्त हो और सभी आपसी सहयोग एवं सहानुभूतिपूर्ण वातावरण में जी सकें। किशोरीलाल गोस्वामी ने अपने अनेक उपन्यासों में इसी आदर्शवादी विशेषता का परिचय देते हुए कुत्सित पथ पर चलने वाले अनेक पात्रों को मृत्यु, कुष्ठ आदि रोगों से पीड़ित होते हुए तथा जीवन में अनेक दारुण दुख झेलते हुए चित्रित किया है।

आदर्शवाद की सर्वाधिक प्रमुख विशेषता तो यह है कि वह कटु यथार्थ का पूर्णतया तिरस्कार करता है। वह कभी नहीं स्वीकारता कि आज का मानव-जीवन पूर्णतया खण्डित है, मूल्य एवं मर्यादाएँ बिखर रही हैं। विचित्र-सी कटुता, अपमान, व्यथा, विषाद की तीखी प्रतिक्रियाएँ मानव जीवन पर गहन रूप में आच्छादित हो रही हैं। सर्वत्र घृणा, असत्य एवं पाप का प्रसार हो रहा है। प्रत्येक व्यक्ति स्वार्थ एवं प्राप्ति आशा के पीछे स्वयं अपने आप को भूलता जा रहा है। वह खुदगर्ज़ी के पीछे यह भूल गया है कि वह किसी को कुछ दे सकता है, दूसरे के त्रस्त एवं अपूर्ण जीवन को अपनी सहानुभूति से पूर्ण बनाने का छोटा-सा प्रयत्न भी कर सकता है। इन सब सामाजिक विकृतियों ने आज के मानवीय-जीवन को विचित्र-सी दिशा प्रदान कर उसे कटुता से इतना विषाक्त कर दिया है कि सहज सम्भाव्य रूप में उसका जीना भी दुर्बल हो गया है। आदर्शवाद, जीवन की इस पीड़ादायक स्थिति का पूर्ण तिरस्कार कर भावुकता की काल्पनिक पृष्ठभूमि पर एक एक स्वप्निल संसार की सृष्टि करने का प्रयत्न करता है, जिसमें सर्वत्र आनन्द तत्व ही सञ्चारित होता रहे, सभी को सुख एवं सन्तोष की उपलब्धि होती रहे और पीड़ा एवं असहनीय व्यथा का कहीं नामोनिशान भी न

आदर्शवादी अपनी इस प्रवृत्ति का पोषण करते हुए यह तर्क उप-
त करते हैं कि उनका इस सम्बन्ध में यथार्थवाद की उपेक्षा करना
हीनता का परिचायक नहीं है। सत्य तो यह है कि हमारा जीवन
न्तर कटुता एवं विषाद की छत्रछाया में ही पलता है और हम बरा-
असन्तोष में ही जीते हैं। जब हम दिन भर इसी विषाक्त वातावरण
थान्त-क्लान्त होकर अवकाश पाने पर थोड़ा मनोरञ्जन करने और
रसता प्राप्त करने के लिये उपन्यासों की ओर मुड़ते हैं और यदि वहाँ
भी उसी कटुतापूर्ण वातावरण की भयङ्कर छाया प्रतिध्वनित होती
रहेगी, तो पाठक रोष में आकर पुस्तक एक ओर पटक देगा। इस
प्रकार कहानियों का महत्व शून्य हो जायगा। अतः उन्हें लोकप्रिय
बनाने एवं उनके महत्व की वृद्धि के लिये आदर्शवाद का प्रश्रय लेना
अनिवार्य सा हो जाता है, इसीलिये यथार्थवाद की उपेक्षा प्रायः कर दी
जाती है। पर यदि तर्कपूर्ण ढङ्ग से आदर्शवादियों की इस धारणा की
परीक्षा की जाय तो उनका दावा पूर्णतया निराधार एवं तर्कहीन सिद्ध
हो जायगा। यह सत्य है कि दिन भर पीडादायक एवं असन्तोषपूर्ण परि-
स्थितियों में कार्य करने के पश्चात् अवकाश प्राप्त करने पर व्यक्ति कथा
साहित्य के पठन की ओर प्रवृत्त होता है, पर यह सत्य नहीं है कि ऐसा
वह मात्र मनोरञ्जन के लिये करता है। साथ ही यह भी सत्य नहीं है
कि कथा साहित्य का एकमात्र उद्देश्य मनोरञ्जन एवं आनन्द तत्वों का
प्रतिपादन ही होता है। जहाँ तक मैं समझता हूँ, उनका प्रमुख उद्देश्य
सृजनात्मक होता है और जीवन की यथार्थता एवं सत्यता से परिचित
कराना, व्यक्ति-व्यक्ति के मध्य निकट सामीप्य स्थापित करना और
मनुष्य के असन्तोष एवं पीडादायक परिस्थितियों में आशा और विश्वास
उत्पन्न कर निर्माण की ओर दिशोन्मुख करना ही होता है। मनोरंजन
रचना की प्रक्रिया का मात्र एक अंश हो सकता है, अन्तिम उद्देश्य
। वस्तुतः जीवन की सत्यता से मुख मोड़ना अपने आप को ही नहीं
राष्ट्र एवं समाज को गुमराह करना होता है। कहानीकार का

वास्तविक दायित्व मानव-जीवन की सत्यता एवं स्वाभाविकता से पाठकों का निकट तादात्म्य स्थापित करना होता है और इस कर्त्तव्य एवं दायित्व की उपेक्षा करना कला के प्रति जबर्दस्त विश्वासघात होता है। लेखक अपने दृष्टिकोण में आदर्शवादी हो सकता है पर आदर्शवाद का यह उद्देश्य कदापि नहीं होना चाहिये कि वह सत्य और यथार्थ से आँखें मूँद कर एक नितान्त यान्त्रिक, अस्वाभाविक एवं काल्पनिक जगत में अपने पाठकों को ले जाये और विचित्र-सी भूलभुलैया में डाल कर उन्हें एक स्वप्निल नशे से उन्मादग्रस्त और दिग्भ्रान्त करे। इसका प्राप्य क्या होगा? यदि कला-साहित्य जीवन को गतिशीलता प्रदान करने एवं दिशोन्मुख करने के साधन हैं, तो क्या उसे भ्रमपूर्ण मरीचिकाओं में, जो अवास्तविकताओं से आच्छादित है, ले जाने से ही इस दायित्व की पूर्णता होगी? और यदि नहीं तो फिर पंच-परमेश्वर, निंदिया लागी, अपना-अपना भाग्य, देशद्रोही आदि कहानियाँ किस आदर्श की पूर्ति करती हैं? ये सभी कहानियाँ जिस आदर्श की स्थापना करती हैं अगर वैसी स्थिति समाज में स्थापित हो जाये तो उससे अच्छी और कोई व्यवस्था नहीं हो सकती। पर जिस प्रक्रिया के दौरान से होकर वे विभिन्न आदर्शों की स्थापना करती हैं, क्या इस सृष्टि में वे सहज सम्भव है—जब इस प्रश्न पर हम विचार करने को प्रस्तुत होते हैं, तो अपने को निरुत्तर की स्थिति में पाते हैं। वे आध्यात्मिक जगत् की बातें तो हो सकती हैं पर निश्चय ही इस सृष्टि की नहीं, जिसमें हम सांस ले रहे हैं जी रहे हैं।

आदर्शवाद न्यायपूर्ण मान्यताओं एवं विचारधाराओं के प्रति दृढ़तम आस्था रखता है और अन्याय या दमन पर न्याय की सार्वभौमिक सत्ता स्वीकार करता है। इस न्यायपक्ष की विजय के सम्बन्ध में आदर्शवादी इतना आश्वस्त रहता है कि उसे अपनी आस्था का हनन कर आत्म-प्रवंचना का शिकार बनने में भी कोई संकोच नहीं होता। इस प्रसंग में उसे आत्मसम्मान और आत्मगौरव का किंचिद्मात्र भी ध्यान नहीं रहता और एक प्रकार से वह न्याय की भीख माँगता है। वस्तुतः न्याय

है क्या ? न्याय की मान्यताएँ भी समाज और काल की दृष्टि से परिवर्तनशील हैं। पहले बाल-विवाह न्याय था, आज बाल-विवाह नियमोल्लङ्घन है। रूसो ने लिखा है, पहले (लगभग १७वीं शताब्दी में नारियों का सुन्दर होना ही उनके अच्छे भाग्य एवं जीवन के लिए अनिवार्य माना जाता था। उन्हें ही प्रत्येक क्षेत्र में प्राथमिकता दी जाती थी और उन्हें ही थोड़े-बहुत अधिकार प्राप्त थे। तब की स्थिति में नारी का अतीव सौन्दर्य ही न्याय था। पर आज कोई ऐसी बात सोच भी नहीं सकता। हो सकता है शीघ्र ही कोई ऐसी व्यवस्था आये (और निश्चय ही आयेगी), जब मृत्युदण्ड और अन्य दण्डों के स्थान पर सुधार करने के अनेक मनोवैज्ञानिक ढङ्ग अपनाये जाने लगें। यह अवश्य है, इसमें शताब्दियाँ लग सकती हैं। इसी परिवर्तनशील न्याय के लिए आदर्शवादी दुहाई देता फिरता है। वह कहता है, व्यक्ति जूते खाता रहे पर उसे न्याय-पक्ष की विजय की आशा कभी नहीं छोड़नी चाहिये, क्योंकि अन्त में न्याय पक्ष की विजय होगी ही। पर यह विशेषता भी एक काल्पनिकता से सम्बन्धित है। संसार में सदैव न्याय-पक्ष की विजय नहीं होती है और आज की परिवर्तित परिस्थितियों में तो सत्य एवं न्याय से बढ़कर खोखले और कोई शब्द नहीं हैं। यह ठीक है कि सदैव न्याय की विजय होनी चाहिये, पर यह दूसरी बात है। जहाँ तक कहानियों का सम्बन्ध है, यदि न्याय-पक्ष की विजय कथानक के स्वाभाविकता की रक्षा के साथ होती है, तो किसी को भी आपत्ति नहीं हो सकती, पर यदि यह सब यान्त्रिक ढङ्ग से होता है। तो यह विवेकहीनता मात्र है।

आदर्शवाद का पात्रों से भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। आदर्शवाद अपनी धारणाओं एवं मान्यताओं के अनुसार ऐसे पात्रों की परिकल्पना पर बल देता है, जो उपर्युक्त विशेषताओं से तो सम्पन्न हों ही, साथ ही उनमें चरित्र निष्ठा भी हो और उनका चरित्र दुर्बल तत्त्वों से पीड़ित न हो। आदर्शवादी यह नहीं चाहता कि उसके द्वारा चित्रित गये पात्र

परिस्थितियों से विवश होकर अनैतिकता की राह अपनाये और हत्या करे, चोरी करे, असत्य बोले, स्वयं भी गुमराह हो और दूसरों को भी गुमराह बनाये। असत् पक्ष को अपनाकर जीवन के उन दुर्बल पक्षों को आत्मसात् करे, जो मानवतावादी दृष्टिकोण से नितान्त रूप से भी मेल न खाती हों। आदर्शवादी पात्र कुछ इस प्रकार का होगा कि संसार की सभी आदर्शवादी मान्यताएँ उसमें सिमट आएँगी और वह प्रकाश के किसी देदीप्यमान् पुञ्ज की भाँति चमत्कृत होता रहेगा। उसके जीवन का सात्विक पक्ष इतना प्रबल होगा किसी भी प्रकार की आसुरी प्रवृत्तियाँ उसके निकट नहीं आती प्रतीत होंगी और वह सद्‌प्रवृत्तियों का एक पुतला मात्र बन कर रह जायेगा। स्पष्ट है, ऐसा पात्र स्वभाविकता की सभी सीमाएँ लाँघ जायेगा और हमारे सामने एक स्वप्निल संसार का निर्माण करेगा। पर न तो कोई व्यक्ति मात्र सात्विक प्रवृत्तियों से ही ओत-प्रोत रहता है और न किसी व्यक्ति में मात्र आसुरी प्रवृत्तियाँ ही आसन जमाये रहती हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति या तो मात्र देवता ही बन कर रह जायगा या मात्र असुर। ऐसे पात्र इस मानवीय सृष्टि के पात्र नहीं हो सकते यह सुनिश्चित है। हो सम्भव है कि अपवादों के रूप में कहीं कोई ऐसा व्यक्ति निकल आये, पर कहानीकार का यह दायित्व नहीं है कि वह मात्र इन अपवाद स्वरूप पाये जाने वाले व्यक्तियों को चित्रण का आधार बनाये और कहानी की रचना प्रक्रिया में प्रवृत्त हो। कथा का वैशिष्ट्य सामान्य व्यक्तियों के यथार्थ चित्रण में है, अपवाद स्वरूप पाये जाने वाले व्यक्तियों के अस्वाभाविक चित्रण में नहीं। इस दृष्टिकोण से जब हम हिन्दी कहानियों पर दृष्टिपात करते हैं, तो पूर्व-प्रेमचन्द काल और प्रेमचन्द काल में ऐसे अस्वाभाविक आदर्शवादी पात्रों का बाहुल्य प्राप्त होता है। पर यहीं स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि इन पात्रों की सृजनात्मकता की पृष्ठभूमि में आदर्शवादी मान्यताएँ क्रियाशील थीं, यह तो ठीक है, पर उन परिकल्पनाओं का प्राप्य क्या हुआ ? इस प्रश्न पर हमें साहित्य एवं समाज दोनों के ही

सन्दर्भ में व्यापक दृष्टि से विचार करना होगा। ऐसे आदर्शवादी पात्र जीवन और जगत् को अपने आदर्शों से चमत्कृत अवश्य ही कर सकते हैं और कुछ थोड़े से भावुक व्यक्तियों की मनःस्थिति को प्रभावित भी कर सकते हैं, पर स्पष्टतः वे यथार्थ से कोसों दूर रहते हैं और कभी-कभी तो लेखक की विवेकशून्यता की स्थिति में वे पात्र अस्वाभाविकता की भी चरम सीमा स्पर्श कर जाते हैं। ऐसी स्थिति में बौद्धिक वर्ग के पाठकों के लिये ये आदर्शवादी पात्र कुछ विशेष महत्व नहीं रखते क्योंकि यह तो स्पष्ट रहता ही है कि ऐसे पात्रों के चरित्रों में जो भी परिवर्तन होते हैं, सभी यान्त्रिक होते हैं और स्वयं पात्रों का उन परिवर्तनों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। यह बात सदैव ही स्मरणीय है कि साहित्य में वही पात्र शाश्वत होते हैं एवं युग-युगों तक अमर रहते हैं जो मानव जीवन की सत्यता के प्रतीक होते हैं और जिनका ताना-बाना स्वाभाविकता के परिवेश में निर्मित होता है। इसे हम दूसरे शब्दों में यथार्थवादी प्रक्रिया की कला कह सकते हैं। जो तथ्य यथार्थ से दूर हैं, वह जीवन से भी दूर हैं और इसीलिए वह जीवन में महत्त्वशून्य हैं।

आदर्शवाद की प्रमुख विशेषताओं पर इस विवेचन के पश्चात् हम यहाँ इस प्रश्न पर भी विचार कर सकते हैं कि क्या इन अनेक दुर्बलताओं के बाद आदर्शवाद को पूर्णतया तिरस्कृत किया जा सकता है? इसका उत्तर स्पष्ट है, जैसा कि ऊपर यह स्पष्ट किया जा चुका है कि आदर्शवाद नैतिक मान्यताओं संस्कृति, सभ्यता एवं आदर्शों के ही स्तम्भों पर आधारित है। जो साहित्य मूल्य मर्यादा रहित है, आदर्शच्युत है, वह हमारे लिए मूल्यहीन है। प्रत्येक शाश्वत साहित्य किसी उच्च-आदर्श को सामने रख कर ही रचा जाता है और तभी उस साहित्य का कोई वास्तविक मूल्यान्वेषण हो सकता है। पर इस आदर्श की रक्षा या प्रस्तुतीकरण का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि आदर्श का आवरण साहित्य पर इतने गहन रूप से आच्छादित हो जाये कि उसकी सीमाओं के बन्धनों में साहित्य के दम घुटने लगे और उन्मुक्त वायु में श्वास ग्रहण करने

के लिए उसकी आत्मा छटपटाने लगे। अनावश्यक नियन्त्रण
को कोमिल कर देता है, उसका गला घोट देता है। शाश्वता
आदर्श को यथार्थ की कठोर भूमि पर खड़े होने का प्रयत्न करना
तभी रचा गया साहित्य मूल्य-मय दा युक्त भी होगा, साथ ही उस
चित्र भी होगा। हमें यह बात सदैव ही स्मरण रखनी होगी कि
आदर्श ही आदर्श में व्याप्त साहित्य मूल्यहीन है, क्योंकि आज का
मानव जीवन भी इस आदर्श से कोसों दूर है। आज का मानव
यही में पूर्ण नहीं है। वह विघटित है, जर्जर है, और विवश
प्रक्रिया में जीने की एक प्रक्रिया-मात्र है। साहित्य कभी इस
एवं सत्य के प्रति उपेक्षणीय नहीं रह सकता। वास्तव में श्रेष्ठ
की रचना आदर्श एवं यथार्थ के परस्पर समन्वय में ही हो सकती

नई कहानी के सम्बन्ध में आश्चर्य की बात यह है कि अ
नए कहानीकारों की प्रारम्भिक कहानियों पर आदर्शवाद का
गहन रूप में पड़ा है। धर्मवीर भारती के पहले संग्रह 'चाँद और
सोग', मोहन राकेश के प्रथम संग्रह 'इंसान के खण्डहर' की अ
कहानियों, मार्कण्डेय एवं रेणु की ग्रामीण अंचल से सम्बन्धित कई
नियों आदि पर यह प्रभाव द्रष्टव्य है। कदाचित् ऐसा परम्परा से
सम्पृक्त होने की प्रक्रिया के कारण हो, पर यह आदर्शवाद प्रेमचन्द
उनके समकालीन दूसरे कहानीकारों की रचनाओं में व्याप्त आ
से पूर्णतया भिन्न है। इनमें उतनी निर्जीवता अथवा यौगिक प्रवृत्ति
है, जितनी उस दौर की कहानियों में मिलती है। जैसे-जैसे नई क
का विकास होता गया है, यह आदर्शवाद स्पष्टता से बदलकर अ
हित सत्य के रूप में अमूर्त ढंग से उभरने लगा और आज की नई क
यथार्थवाद के पथ का अनुगमन करती हुई इसी अमूर्त आदर्शवाद के
को स्पष्ट करने की प्रक्रिया में गतिशील होती है।

आधुनिक युग में नई कहानी की एक विशेष प्रवृत्ति अस्तित्ववाद क ओर झुकाव है। अस्तित्ववाद एक दर्शन है, जो अमूर्त को ठोस रूप समझने के उद्देश्य से व्यक्ति के अध्ययन पर बल देता है। इसने अपने आपको भविष्यवक्ता स्वीकार कर विगत और आगत को समझने क प्रयास किया है। यह जीवन से टकराता है और उस इच्छा को पूर करता है, जैसाकि अस्तित्ववाद के वास्तविक प्रवर्त्तक सॉरेन किर्केगार्ड ने स्पष्ट किया था कि हम जीवन में आगे बढ़ते तो हैं, पर सोचते-समझते व्यतीत में हैं। इसने प्रत्येक बातों के सम्बन्ध में नए प्रश्न किए और जीवन के सतही रूप तक ही सीमित रहने से अस्वीकार कर क्रान्तिकारी बनने के प्रति कृत-संकल्प हुआ। कृत-संकल्प इस अर्थ में, जैसाकि मार्क्स ने हीगल के दर्शन की आलोचना करते समय कहा था कि हमें प्रत्येक बातों की जड़ में जाना चाहिए और प्रत्येक बातों की जड़ मनुष्य स्वयं ही है। कामू का कहना था कि अरक्षा की भावना ही मनुष्य को सोचने के लिए विवश करती है। यह समझना कि अस्तित्ववाद द्वितीय महायुद्ध की प्रतिक्रियास्वरूप जन्मा है, भ्रामक है। किर्केगार्ड और नीत्शे, जिनसे यह दर्शन अत्यधिक प्रभावित है, बहुत पहले १६३० के लगभग ही प्रसारित हो चुका था, बल्कि उससे पूर्व। ज्याँ-पॉल सार्त्र की विचारधारा, कामू तथा मॅलीगुला की विचारधारा भी १६३६ तक प्रकाश में आ चुकी थी और अस्तित्ववादी दर्शन १६४१ तक स्पष्ट हो चुका था।

अस्तित्ववाद का काल्पनिक साहित्य सृजन के प्रति आस्था नहीं है। वह जीवन के नित्य प्रति के स्वाभाविक संघर्षों को महत्त्व प्रदान करता है और मानव-मुक्ति के प्रति उसका अटूट विश्वास है। जूलियन बेन्दा के अनुसार अस्तित्ववाद भाव तथा विचार के प्रति जीवन का विद्रोह है। एमानुएल मौनियर के अनुसार अस्तित्ववाद भावों तथा वस्तुओं के अतिवादी दर्शन के विरोध में मानवीय दर्शन है। ऐलेन के अनुसार अस्तित्वता परम्परागत दर्शक की दृष्टि न होकर अभिनेता की दृष्टि

है । इस विचार दर्शन में जीवन की समस्याओं पर विचार मुक्तभोगियों की ओर से होता है । मानव की विवशता से परिपूर्ण एवं असहाय स्थिति में अस्तित्ववाद का प्रारम्भ होता है । मानव-जीवन क्षणभंगुर है । कुछ निश्चित नहीं कि जीवन कब अन्त सीमा तक पहुँच जाएगा । इस अनिश्चितता की स्थिति में मनुष्य अपने को अनेक बंधनों में बंधा हुआ पाता है और देखता है कि उसे स्वच्छन्दता नहीं प्राप्त है । वह भाव को एक निश्चित रूप देना चाहता है, भावाभिव्यक्ति में पूर्ण बनना चाहता है और स्वतन्त्रता का उद्घोष करना चाहता है—अस्तित्व-वाद की सीमा यहीं से प्रारम्भ होती है ।

अस्तित्ववादी विचारधारा का प्रथम सूत्र शून्यता का है । ईश्वर की सत्ता की अनुपस्थिति मानते हुए ही अस्तित्ववाद शून्य स्थिति की कल्पना करता है और अनेक प्रश्न उठाता है, जैसे मैं क्यों हूँ, अन्य चीजें क्यों अस्तित्व रखती हैं ? भय और आशंका में इस शून्यता का अनुभव किया जा सकता है । शून्यता का सामना करते हुए व्यक्ति विकृतियों को अनुभव करता है । जैसाकि काम्यू का कथन है वह अपने आपमें प्रत्येक बातों के स्पष्टीकरण की आवश्यकता का अनुभव करता है क्योंकि वह अपने को भ्रमित अवस्था में तथा चारों ओर से अन्धेरे में घिरा पाता है । वह मनुष्य के पूर्ण अस्तित्व में विश्वास रखता है । उसके अनुसार वह प्लेटो की गुफा में कोई छाया नहीं है, जो आदर्श और स्थायी विचारों की कामना करता हो । वह एक ऐसा नमूना भी नहीं है, जिसे सामान्य अर्थों में मानव-स्वभाव कहते हैं । वह संसार में फेंके गये पत्थर के समान भी नहीं है, जिसे जहाँ चाहे, वहाँ फेंका या रखा जा सकता है । वह सृष्टि में इसीलिए आया है कि अपने अस्तित्व की रक्षा करते हुए जीवन जीए । वह मनुष्य की स्वतन्त्रता को अपना मूलभूत आधार स्वीकारता है । इस प्रकार अस्तित्ववाद एक दर्शन है, जो जीने से सब-न्धित है । सार्त्र के अनुसार मृत्यु आकस्मिक होती है, इसलिए वह निन्द-नीय है । वह जीवन को उसके अर्थ की अभिव्यक्ति देने में असम

रहती है।

जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, पिछले कुछ वर्षों में अस्तित्ववादी जीवन दर्शन ने नई कहानी के ऊपर अपना विशेष प्रभाव डाला है। 'कई एक अकेले' (मोहन राकेश), 'तलाश' (कमलेश्वर), 'अनबीता व्यतीत' (नरेश मेहता), 'पराए शहर में' (निर्मल वर्मा), 'क ख ग' (रवीन्द्र कालिया), 'क्रॉस' (जगदीश चतुर्वेदी), 'शेष होते हुए' (ज्ञानरंजन) आदि ऐसी ही अनेक कहानियाँ हैं, जिनमें अस्तित्ववादी विचारधारा के सूत्र अंशतः अथवा पूर्णतः अन्वेषित किए जा सकते हैं।

●●●

अनुक्रमणिका

रहती है।

जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, पिछले कुछ वर्षों में अस्तित्ववादी जीवन दर्शन ने नई कहानी के ऊपर अपना विशेष प्रभाव डाला है। 'कई एक अकेले' (मोहन राकेश), 'तलाश' (कमलेश्वर), 'अनबीता व्यतीत' (नरेश मेहता), 'पराए शहर में' (निर्मल वर्मा), 'क ख ग' (रवीन्द्र कालिया), 'क्रॉस' (जगदीश चतुर्वेदी), 'शेष होते हुए' (ज्ञानरंजन) आदि ऐसी ही अनेक कहानियाँ हैं, जिनमें अस्तित्ववादी विचारधारा के सूत्र अंशतः अथवा पूर्णतः अन्वेषित किए जा सकते हैं।

●●●

o

सुरेश सिनहा

जन्म १८ अगस्त १६४०, जौनपुर। प्रारम्भिक शिक्षा प्रयाग मे हुई और मध्यवर्गीय जीवन वृत्त मे पिता डॉ० अक्षयबरलाल श्रीवास्तव के साहित्यानुराग से प्रेरित होकर बाल्यावस्था मे ही रचना-कार्य मे प्रवृत्त।

अग्रसेन कालेज इलाहाबाद और प्रयाग विश्वविद्यालय मे शिक्षा प्राप्त की : एम० ए० डी० फिल्० तक। कुछ काल तक दिल्ली विश्वविद्यालय मे प्राध्यापन कार्य किया, फिर १६६४ मे त्यागपत्र देकर स्वतन्त्र रूप से लेखन कार्य मे सलग्न।

प्रकाशित कृतियाँ।

उपन्यास वापसी (१६६१)
एक और अजनबी (१६६३)
सुबह अंधेरे पथ पर (१६६५)

कहानी . सुबह होने तक (प्रकाश्य)

आलोचना हिन्दी आलोचना का विकास (१६६४)
हिन्दी उपन्यास : उद्भव और विकास (१६६५)